SWAMI VIVEKANANDA

·The Hindoo Monk of India·

वर्ष ३७, अंक ६
जून १९९९
मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक ६ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(पाँचवीं तालिका)

२०१. श्री सुनील कुमार तिवारी, टाटीबन्द, रायपुर (म.प्र.)
२०२. श्रीमती कलावती देवी लोहिया कलकत्ता, (प.बंगाल)
२०३. महाराज हुकुम सिंह, जैसलमेर (राजस्थान)
२०४. श्री के. एन. बंजारे, हल्दिया, मिदनापुर (प.बंगाल)
२०५. श्रीमती शिप्रा चक्रवर्ती, राउरकेला (उड़ीसा)
२०६. श्री अरविन्द वर्मा, सत्तीबाजार, रायपुर (म.प्र.)
२०७. श्री भूपाल द्विवेदी, कोरबा (म.प्र.)
२०८. श्री सीताराम ठाकुर, कापा, दुर्ग (म.प्र.)
२०९. श्री एस. के. झाँवर, इन्दौर (म.प्र,)
२१०. श्री एम. एल. मिश्रा, सरकण्डा, बिलासपुर (म.प्र.)
२११. डॉ. एस.एम. नरखेडकर, नागपुर (महाराष्ट्र)
२१२. श्री एम.डी. प्रभु, नागपुर (महाराष्ट्र)
२१३. श्री विद्याधर कुलकर्णी, नागपुर (महाराष्ट्र)
२१४. श्री माधव बोराडकर, रविनगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
२१५. श्री शिरीष टी. पुराणिक, नागपुर (महाराष्ट्र)
२१६. श्री पारस मारू, उज्जैन (म.प्र.)
२१७. डॉ. आशुतोष पाठक, उज्जैन (म.प्र.)
२१८. श्रीमती सुदर्शन नन्दा, नई दिल्ली
२१९. श्री बी. प्रकाशचन्द जैन, चेन्नै (तमिलनाडु)
२२०. श्री रणजीत सिंह मुजाल्दा, उज्जैन (म.प्र)
२२१. डॉ. आशुतोष पाठक, उज्जैन (म.प्र.)
२२२. श्री आर. के. बैनर्जी, तन्सा, सुन्दरगढ़ (उड़ीसा)
२२३. श्री शशिकान्त मिश्रा, नारायणपुर, बस्तर (म.प्र.)
२२४. स्वामी श्रीकरानन्द, बेलूड़ मठ, हावड़ा (प.बंगाल)
२२५. स्वामी सुहृदानन्द, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)
२२६. श्री सुन्दरलाल श्रीवास्तव, अमरावती (महाराष्ट्र)
२२७. सुश्री मीता करन, खरावत, बैकुण्ठपुर, कोरिया (म.प्र.)
२२८. सचिव, श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द सेवाश्रम, मुजफ्फरपुर (बिहार)
२२९. डॉ. भँवरलाल माहेश्वरी, बल्लभनगर, कोटा (राजस्थान)
२३०. श्री अनिल कुमार बंसल, मल्हारगंज, इन्दौर (म.प्र.)
२३१. स्वामी निष्कामानन्द सरस्वती, भगत भगवान, जाजपुर (उड़ीसा)
२३२. श्री एस.एम. चव्हाण, पुणे (महाराष्ट्र)

२३३. श्री बेनलाल साहू, मोहदी, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
२३४. डॉ. रामजीवन चौबे, कुतूल रोड, दुर्ग (म.प्र.)
२३५. श्रीमती परवेश बजाज, चण्डीगढ़
२३६. श्री हर्षवर्धन जगम, लक्ष्मीनगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
२३७. सुश्री रितु राणा, नई दिल्ली
२३८. मास्टर सुमित शर्मा, नई दिल्ली
२३९. श्री मनमोहन सिंह, कुट्टेर, कांगड़ा (हिमांचल प्रदेश)
२४०. श्री सुशील सलारिया, राजा का तालाब, कांगड़ा (हिमांचल प्रदेश)
२४१. श्री हर्ष ओबेराय, नई दिल्ली
२४२. श्री विनोद कुमार शर्मा, सरिता विहार, दिल्ली
२४३. श्री करन सिंह, सरिता बिहार, दिल्ली
२४४. श्री रघुवीर सिंह, काग्गी, कांगड़ा (हिमांचल प्रदेश)
२४५. सुश्री ममता भटनागर, सुजानपुर, हमीपुर (हिमांचल प्रदेश)
२४६. श्री किशोरीलाल शर्मा, दिल्ली
२४७. श्री ठाकुर सिंह, कुट्टेर, कांगड़ा (हिमांचल प्रदेश)
२४८. श्री बलराज नरेन्द्र, सरिता विहार, नई दिल्ली
२४९. श्री सुरेन्द्रचन्द्र शर्मा, नई दिल्ली
२५०. श्री कपिल वरुणचन्द, रोहिणीपुरम, दिल्ली

आजीवन ग्राहकों को सूचना

मासिक 'विवेक-ज्योति' का आजीवन ग्राहकता शुल्क (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७०० निर्धारित हुआ है। जिन ग्राहकों ने पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान १००, २०० या ३०० रुपये की दर से यह शुल्क जमा किया है, उनसे अनुरोध है कि वे अपने ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए बाकी राशि का, अपनी सुविधानुसार इकट्ठे या किस्तों में मनिआर्डर या बैंकड्राफ्ट के द्वारा यथाशीघ्र इसी वर्ष (१९९९ ई.) जमा कर दें। भेजी जानेवाली राशि का विवरण इस प्रकार है — ग्राहक संख्या L-९१४ से L-३४१४ तक रु. ६००/- ग्राहक संख्या L-३४१५ से L-३९२५ तक रु. ५००/-; ग्राहक संख्या L-३९२६ से L-४१९३ तक रु. ४००/-

जिन सदस्यों की राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायेगी, उन्हें जनवरी '९९ से पच्चीस वर्षों के लिए नया आजीवन सदस्य बना लिया जायेगा।

नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने पर जमाराशि में से प्रतिवर्ष का वार्षिक शुल्क (रु. ५०) काट लिया जायेगा और राशि समाप्त हो जाने पर अंक भेजना स्थगित कर दिया जायेगा। — *व्यवस्थापक*

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

त्यागी का मनोभाव

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं, क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलं च।
नवधनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणामविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम्।

अर्थ – हमारे भोजन के लिए यथेष्ट फल हैं, प्यास मिटाने के लिए स्वादिष्ट जल हैं, सोने के लिए भूतल है और शरीर ढँकने के लिए वल्कल की कमी नहीं है। अत: हम विभ्रान्तचित्त कुपथगामी नवधनाढ्यों का अनादर तथा उपेक्षापूर्ण व्यवहार नहीं सहेंगे ।

अशीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः।

अर्थ – हम लोग भिक्षान्न का भोजन करेंगे, आकाश का वस्त्र धारण करेंगे और पृथ्वी तल पर शयन करेंगे । फिर हमें राजा लोगों से क्या काम?

न नटा न विटा न गायका न च सभ्येतरवादचुञ्चवः।
नृपमीक्षितुमत्र के वयं स्तनभारानमिता न योषितः।

अर्थ – हम लोग न तो नट हैं, न विदूषक हैं, न गायक हैं, न सभा में वाद-विवाद करने में कुशल दरबारी हैं और न कुचभार से नमित सुन्दरी स्त्री हैं । फिर हमारा धनिक राजाओं से क्या काम?

— **भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्**, ५४-५६

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

— १ —

(बागेश्री – कहरवा)

दरशन दो अबकी बार ।
आया ठाकुर तव चरणों में, खोलो निज करुणा का द्वार ॥
मन उपवन में फूल खिले जो, चुनकर भाव सहित मैं उनको,
लेकर आया हूँ चरणों में, करुणामय कर लो स्वीकार ॥
जीवन में तुमको पाना था, पर पथ बीहड़ अनजाना था,
तो भी आ पहुँचा हूँ दर पर, कर सब बाधाओं को पार ॥
छूट चुका है भव से नाता, भोग-विषय अब चित न लुभाता,
क्षणभंगुर सपना टूटा तो, समझ गया तुमको ही सार ॥

— २ —

(मारूबिहाग – कहरवा)

(निज) चरणों में स्वीकार कर लो, मेरे प्रणाम॥ ठाकुर मेरे.॥
हे करुणामय मंगलकारी, सुनकर महिमा-कथा तुम्हारी;
शरण माँगने आ पहुँचा हूँ, तज दारा अरु दाम॥ ठा. मेरे.॥
अन्तर मेरा निर्मल कर दो, श्रद्धा-भाव-भक्ति से भर दो;
रसना जपती रहे सदा ही, मधुर तुम्हारा नाम ॥ ठा. मेरे.॥
अब न कभी मुझको बिसराना, रहकर संग मार्ग दिखलाना;
अन्त समय ले जाना मुझको, अपने चिन्मय धाम ॥ ठा. मेरे.॥

— विदेह

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

कुमारी मीड का मकान,
लॉस एंजिलिस, कैलीफोर्निया
१५ फरवरी, १९००

प्रिय निवेदिता

तुम्हारा ... का पत्र आज मुझे पॅसाडेना में प्राप्त हुआ। मालूम होता है कि 'जो' तुमसे शिकागो में नहीं मिल सकी; किन्तु न्यूयार्क से भी उन लोगों का कोई समाचार मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इंग्लैण्ड से बहुत से अंग्रेजी समाचार-पत्र मुझे प्राप्त हुए हैं – लिफाफे पर एक पंक्ति में मेरे प्रति शुभेच्छा प्रकट की गयी है एवं उस पर एफ. एच. एम. (फ्रेंसिस हेनरियेटा मूलर) के दस्तखत हैं। उनमें विशेष महत्वपूर्ण वस्तु कुछ भी नहीं है। कुमारी मूलर को मैं एक पत्र लिखना चाहता था; किन्तु मुझे उनका पता नहीं मालूम। साथ ही मुझे आशंका भी हुई कि मेरे पत्र लिखने से कहीं वे भयभीत न हो उठें।

इसी बीच श्रीमती लेगेट ने मेरी सहायता के लिए दस साल तक वार्षिक १०० डालर के हिसाब से अनुदान की योजना प्रारम्भ कर दी है तथा सन् १९०० के लिए १०० डालर देकर उन्होंने इस सूची में सबसे पहले अपना नाम लिखाया। इसके लिए उन्होंने दो अन्य लोगों को भी ढूँढ़ा है। फिर इसमें सम्मिलित होने के लिए उन्होंने मेरे सब मित्रों के नाम पत्र लिखना आरम्भ किया। श्रीमती मिलर को लिखने पर मैं शर्मिन्दा हो गया, परन्तु मेरे जानने के पहले ही वे लिख चुकी थीं। एक बहुत ही नम्र किन्तु उत्साहहीन पत्र, मेरी के द्वारा लिखा हुआ, श्रीमती हेल के यहाँ से उसे मिला, जिसमें उसने मेरे प्रति अपने स्नेह का विश्वास दिलाते हुए अपनी असमर्थता व्यक्त की थी। मुझे भय है कि श्रीमती हेल तथा मेरी अप्रसन्न होंगी, लेकिन इसमें मेरा कुछ भी दोष नहीं है !!

श्रीमती सेवियर के पत्र से मुझे विदित हुआ कि कलकत्ते में निरंजन अत्यन्त बीमार हो गया है – कौन जाने कहीं उसका शरीरान्त तो नहीं हो गया है। अस्तु। निवेदिता, अब मैं नितान्त कठोर बन चुका हूँ – पहले की अपेक्षा मेरी दृढ़ता बहुत-कुछ बढ़ चुकी है – मेरा हृदय मानो लोहे की पत्तियों से जड़ दिया गया है। अब मैं संन्यास जीवन के समीप पहुँचता जा रहा हूँ। दो सप्ताह हो गये, सारदानन्द से मुझे कोई समाचार नहीं मिला। मुझे प्रसन्नता है कि तुम्हें कहानियाँ मिल गयी हैं, यदि उचित समझो तो फिर से लिख डालो। अगर कोई मिल जाय, तो उन्हें प्रकाशित करा दो। उससे प्राप्त रकम अपने कार्य में लगा लो। मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। मैं अगले सप्ताह में सैन फ्रैंसिस्को जा रहा हूँ; आशा है

कि वहाँ पर मुझे कार्य करने की सुविधाएँ प्राप्त होंगी। जब अगली बार मेरी से मिलो, तो उससे कहना कि श्रीमती हेल की सालाना १०० डालर की सहायता से मुझे कुछ नहीं करना है। उन लोगों का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

डरने की कोई बात नहीं – तुम्हारे विद्यालय के लिए धन अवश्य प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और यदि कदाचित धन न भी मिले, तो इसमें हानि ही क्या है? 'माँ' ही जानें कि वे किस रास्ते से ले जाना चाहती हैं। वे चाहे जिस रास्ते ले जाएँ, सभी रास्ते समान हैं। मुझे यह पता नहीं है कि मैं शीघ्र ही पूर्व (अर्थात न्यूयार्क की ओर) की ओर जाऊँगा या नहीं। यदि जाने का सुयोग हुआ, तो मैं निश्चित रूप से इण्डियाना जाऊँगा।

इस प्रकार के अन्तर्जातीय मिलन का उद्देश्य महान है – जैसे भी हो, तुम उसमें अवश्य सम्मिलित होना; और यदि तुम माध्यम बनकर कुछ भारतीय महिला-समितियों को उसमें सम्मिलित करा सको, तो और भी अच्छा है। ...

कुछ परवाह नहीं, हमारे कार्य को सारी सुविधाएँ प्राप्त होंगी। ज्योंही यह युद्ध समाप्त होगा, त्योंही हम इंग्लैण्ड पहुँच जायेंगे और जोर-शोर से कार्य चलाने का प्रयत्न करेंगे – ठीक है न ? क्या 'धीरा माता' को कुछ लिखा जाय? यदि उन्हें लिखना तुम्हें उचित प्रतीत हो, तो उनका पता मुझे भेज देना। उसके बाद क्या उन्होंने तुमको कोई पत्र लिखा है?

धैर्य बनाये रहो, कठोर एवं कोमल – सभी लोग ठीक हो जायँगे। ये जो तुम्हें तरह तरह के अनुभव प्राप्त हो रहे हैं, मैं यही चाहता हूँ। मुझे भी शिक्षा मिल रही है। जिस समय हम कार्य करने के लिए उपयुक्त होंगे, ठीक तभी धन तथा मनुष्य अपने आप हमारे समीप आ पहुँचेंगे। इस समय मेरी स्नायुप्रधान प्रकृति एवं तुम्हारी भावनाएँ आपस में मिल जाने से गड़बड़ी हो सकती है। इसीलिए माँ मेरी स्नायुयों को धीरे धीरे आरोग्य प्रदान कर रही हैं और तुम्हारी भावनाओं को भी शान्त कर रही हैं। फिर हम अग्रसर होंगे, इसमें सन्देह ही क्या है। अब अनेक महान कार्य सम्पन्न होंगे – यह निश्चित जानना। अब हम प्राचीन देश यूरोप के मूलाधार तक को हिला डालेंगे।

मैं क्रमशः शान्त तथा धीर बनता जा रहा हूँ – चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, मैं तैयार हूँ। अब की बार इस प्रकार से कार्य में जुट जायँगे कि पग पग पर हमें सफलता प्राप्त होगी – एक भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं होगा - यही मेरे जीवन का अगला अध्याय है। मेरा स्नेह जानना।

विवेकानन्द

पुनश्च – तुम अपना वर्तमान पता लिखना।

वि.

– २ –

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

पॅसोडेना,

२० फरवरी, १९००

प्रिय मेरी,

श्री हेल की मृत्यु के दुखद समाचार के साथ तुम्हारा पत्र मुझे कल मिला। मैं दुखित हूँ, क्योंकि मठ-जीवन की शिक्षाओं के बावजूद भी हृदय की भावनाएँ बनी रहती हैं; और फिर मैं अपने जीवन में जिन अच्छे लोगों से मिला उनमें श्री हेल एक उत्कृष्ट व्यक्ति थे। निस्सन्देह तुम्हारी स्थिति दुखपूर्ण तथा दयनीय है; और यही हाल 'मदर चर्च' का और हैरियट तथा बाकी लोगों का भी है, खासकर जब कि अपने तरह का यह पहला दुख तुम लोगों को मिला है, ठीक है न? मैं तो कई को खो चुका हूँ, बहुत दुख झेल चुका हूँ और विचित्र बात है कि किसी के गुजर जाने के बाद दुख यह सोचकर होता है कि हम उस व्यक्ति के प्रति यथेष्ट भले नहीं रहे। जब मेरे पिता मरे, तब मुझे महीनों तक कसक बनी रही कि मैं उनके प्रति अवज्ञाकारी भी था।

तुम बहुत आज्ञाकारी रही हो। और यदि तुम्हारे मन में इस प्रकार की बातें आती हैं, तो वह शोक के कारण ही।

मेरी, मुझे लगता है कि जीवन का वास्तविक अर्थ तुम्हारे लिए अभी ही खुला है। हम लाख अध्ययन करें, व्याख्यान सुनें और लम्बी-चौड़ी बातें करें, पर यथार्थ शिक्षक और आँख खोलनेवाला तो अनुभव ही है। यह जैसा है, उसी रूप में उत्तम है। सुख और दुख से हम सीखते हैं। हम नहीं जानते कि ऐसा क्यों है, पर हम देखते हैं कि ऐसा है और यही पर्याप्त है। 'मदर चर्च'को तो अपने धर्म से आश्वासन मिलता है। काश, हम सभी निर्विघ्न रूप से सुस्वप्न देख सकते।

तुम अभी तक जीवन में छाँह पाती रही हो। मैं तो सारे समय घाम में जलता और हाँफता रहा हूँ। अब एक क्षण को तुम्हें जीवन के दूसरे पक्ष की झलक मिली है। पर मेरा जीवन इस तरह के लगातार आघातों से बना है, सैकड़ों गुने गहरे आघातों से और वह भी निर्धनता, छल और मेरी मूर्खता के कारण ! निराशावाद ! तुम समझोगी कि कैसे यह आ दबोचता है। खैर, मैं तुमसे क्या कहूँ मेरी? तुम इस तरह की सब बातें जानती हो। मैं केवल इतना ही कहता हूँ – और यह सत्य है – कि यदि दुख विनिमय सम्भव हो और मेरा मन हर्ष से परिपूर्ण हो तो मैं अपना मन तुमसे हमेशा हमेशा के लिए बदल लूँ। जगन्माता इसे अच्छी तरह जानती हैं।

तुम्हारा भाई,

विवेकानन्द

– ३ –

(श्रीमती ओली बुल को लिखित)

लॉस एंजिलिस,
१५ फरवरी, १९००

प्रिय धीरा माता,

यह पत्र आपको जब प्राप्त होगा, उससे पहले मैं सैन फ्रांसिस्को रवाना हो जाऊँगा। कार्य के सम्बन्ध में आपको सब कुछ विदित ही है। मैंने कोई विशेष कार्य नहीं किया है; किन्तु प्रतिदिन मेरा हृदय – देह एवं मन दोनों ही – अधिकाधिक सबल बनता जा रहा है। किसी किसी दिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं सब कुछ बरदाश्त कर सकता हूँ और सब प्रकार के दुखों को भी सहन कर सकता हूँ। कुमारी मूलर ने कागज का बण्डल भेजा था, उसमें कोई उल्लेखनीय कागज नहीं था। उनका पता न जानने के कारण मैंने उन्हें कुछ नहीं लिखा, इसके अलावा मुझे डर भी था।

अकेले रहने पर ही मैं अधिक अच्छी तरह से कार्य कर सकता हूँ; और जब मैं सम्पूर्णतः अपने गुरुभाइयों को छोड़कर आठ वर्ष तक अकेला रहा था, तब कभी एक दिन के लिए भी बीमार नहीं पड़ा था। अब पुनः अकेला रहने के लिए प्रस्तुत हो रहा हूँ! यह निस्सन्देह एक आश्चर्य की बात है। किन्तु माँ मुझे उसी प्रकार रखना चाहती है – जैसा कि 'जो' कहती है 'गैण्डे की भाँति एकाकी घूमना' ही मुझे अभीष्ट है। ...

बेचारे तुरीयानन्द को न जाने कितना कष्ट उठाना पड़ा हो, किन्तु उसने मुझे कुछ भी नहीं लिखा – वह नितान्त सरल-हृदय तथा भोला-भाला है। श्रीमती सेवियर के पत्र से मालूम हुआ कि बेचारा निरंजनानन्द कलकत्ते में इतना अधिक बीमार हो गया है कि अब तक जीवित है अथवा नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता। हाँ एक बात और है, सुख-दुख दोनों आपस में हाथ पकड़कर चलना पसन्द करते हैं। यह एक अद्भुत घटना है। वे मानो एक शृंखला बाँधकर चलते हैं। मेरी बहन के पत्र से विदित हुआ कि उसने जिस कन्या को पाला था, उसका देहान्त हो गया। भारत के भाग्य में मानो दुख ही दुख लिखा हुआ है। ठीक है, ऐसा ही होने दो! सुख-दुख में अब किसी प्रकार की प्रतिक्रिया मुझमें नहीं होती! इस समय मानो मैं लोहे जैसा बन चुका हूँ। होने दो – 'माँ' की इच्छा ही पूर्ण हो!

गत दो वर्षों से मैंने जो अपनी दुर्बलता का परिचय दिया है, उसके लिए मैं अत्यन्त लज्जित हूँ। उसकी समाप्ति से मुझे खुशी है।

आपकी चिर स्नेहाबद्ध सन्तान,
विवेकानन्द

वसुधैव कुटुम्बकम्

स्वामी आत्मानन्द

नीतिकार ने संकीर्णचित्त और उदारचित्त का अन्तर बतलाते हुए कहा है –

अयं निजपरोवैति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

– संकुचित हृदयवालों की यह भावना होती है कि यह मेरा और यह दूसरे का, पर उदार चरितवाले व्यक्तियों के लिए सारी वसुधा ही अपना कुटुम्ब बन जाती है।

यह मनुष्य की ममता है, जो उसे छोटा बना देती है। कहा भी तो है – 'ममता बुरी बलाय'। यह सही है कि ममता के द्वारा माता-पिता अपनी सन्तानों के परिपालन की प्रेरणा पाते हैं, पर यह भी सही है कि ममता-रोग से ग्रस्त व्यक्ति स्वार्थ के तंग दायरे में घिरकर संकीर्ण, अनुदार और पक्षपाती हो जाता है।

एक न्यायाधीश का किस्सा है। उसने जाने कितने अपराधियों को फाँसी की सजा दी थी, किन्तु एक दिन जब उसी का लड़का हत्या के अपराध में उसकी अदालत में पेश किया गया, तो न्यायाधीश का स्वर बदल गया। वह दलील देने लगा कि 'फाँसी की सजा अमानवीय है। मनुष्य को ऐसी कठोर सजा देना शोभा नहीं देता। इससे अपराधी की सुधरने की आशा नष्ट हो जाती है। खून करनेवाले ने भावना और आवेश में, जोश और उत्तेजना में खून कर डाला, परन्तु उसकी आँखों पर से खून का जुनून उतर जाने पर उस व्यक्ति को संजीदगी के साथ फाँसी के तख्ते पर चढ़ाकर मार डालना मानवता के लिए बड़ी लज्जा की बात है, बड़ा कलंक है, आदि आदि।' यदि न्यायाधीश के सामने उसका अपना लड़का न होकर अन्य कोई होता, तो उसने बेहिचक उसे फाँसी की सजा दे दी होती। पर लड़के के प्रति उसका ममत्व उसके कर्तव्य-पालन में आड़े आ रहा था।

इस ममत्व का कारण यह है कि हम संसार को 'वस्तुनिष्ठ' दृष्टिकोण से नहीं देख पाते। संसार को देखने के दो तरीके हैं – एक तो वह जिसे हम Subjective यानी 'आत्मनिष्ठ' दृष्टिकोण कहते हैं और दूसरा Objective यानी 'वस्तुनिष्ठ' दृष्टिकोण कहलाता है। पदार्थ के अपने कुछ विशिष्ट गुण होते हैं, जो उस पदार्थ के सन्दर्भ में तो परिवर्तनशील हैं, पर व्यक्ति-भेद से उनके महत्व और उपादेयता में भिन्नता हुआ करती है। उदाहरणार्थ, हम सोने की एक डली लें। सोने की दृष्टि से सोने के जो गुण हैं, वे परिवर्तित नहीं होते, पर विभिन्न व्यक्ति उस डली को अलग अलग दृष्टिकोण से देखेंगे – कोई उसमें हार देखेगा, तो कोई कंगन। जिसे कर्णफूल बनाने की इच्छा होगी, वह उस डली में कर्णफूल देखेगा। इस प्रकार, सोने के साथ रागात्मक सम्बन्ध में व्यक्ति-भेद से भिन्नता हो जाती है। यदि ये रागात्मक सम्बन्ध हटा दिये जाएँ, तो व्यक्ति निरपेक्ष दृष्टि से सोने को देखने में समर्थ होगा। उसे सोना-सोना ही दिखाई देगा। हम अपनी इस बात को थोड़ा और स्पष्ट करें।

कल्पना करें कि एक व्यक्ति अभावग्रस्त होकर अपना सोने का गणेशजी बेचने के लिए दुकान पर आया है। इस व्यक्ति के लिए भले ही गणेशजी का रूप सत्य हो, पर दुकानदार के लिए तो सोना ही सत्य है। वह रूप की तनिक परवाह नहीं करता। अगर गणेशजी हाथ से छुटकर नीचे गिर जाय, तो बेचने वाला लपककर उसे उठा लेगा और देखेगा कि मूर्ति कहीं पर क्षत तो नहीं हुई। दुकानदार अविचलित रहता है। गणेशजी के मुड़ने और टूटने से उसका कोई प्रयोजन नहीं। गणेशजी साबुत हों तो भी उसकी दृष्टि में उतनी ही कीमत के होंगे जितनी मुड़ने या टूटने पर।

हमारा सारा मोह तब शुरू होता है, जब परिस्थितियों को उनके वास्तविक रूप में न देखकर हम उनके साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। इससे व्यक्ति निरपेक्ष नहीं रह पाता और इसीलिए जीवन की सारी भूलें हुआ करती हैं। तब हमारा सन्तुलन उपर्युक्त न्यायाधीश के समान बिगड़ जाता है और जाँच के हमारे सारे मापदण्ड ही बदल जाते हैं। ममत्व हमें संकीर्ण बना देता है। ममत्व का यह रोग हममें इतनी गहराई तक व्याप्त है कि इसने हमारे राष्ट्रीय चरित्र को ही दूषित कर दिया है। रोग की इस विभीषिका से त्राण पाने का उपाय बस यही है कि हम अपने दृष्टिकोण को अधिक 'वस्तुनिष्ठ' बनाने का प्रयास करें। वही हमें उदारचेता बनाएगा। तभी हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव की ठीक ठीक धारणा कर सकेंगे। □

परम ज्ञान

वह तत्त्व एक निम्नतम अमीबा से लेकर महत्तम देवता में सर्वत्र निवास करता है और सतत घोषित करता है - 'सोऽहं, सोऽहम्'। यदि सतत विद्यमान अनाहत नाद को हम समझ सकें, यह पाठ सीख लें, तो सम्पूर्ण सृष्टि का रहस्य खुल जाएगा, ज्ञातव्य कुछ भी नहीं रह जाएगा। अतः समस्त धर्म-सम्प्रदाय जिस सत्य की खोज में लगे हैं, वह सत्य हमें प्रत्यक्ष हो जाएगा और हम समझ जाएँगे कि भौतिक विज्ञान की ये सारी उपलब्धियाँ गौण हैं। केवल यही सच्चा ज्ञान है, जो विश्व की विश्वात्मा के साथ हमें एकरूप बनाता है।

— स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(अड़सठवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

ठाकुर के साथ केशवचन्द्र सेन का जो घनिष्ठ सम्बन्ध था, उसका परिचय हम पहले ही पा चुके हैं। लगता है कि यह अन्तिम भेंट है, क्योंकि इसके थोड़े दिन बाद ही केशव का देहावसान हो गया।

उस दिन श्रीरामकृष्ण केशव के घर आनेवाले थे, अत: एक भक्त घर के सामने उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। कहना न होगा कि ये भक्त स्वयं मास्टर महाशय ही थे। पड़ोस में एक एंग्लो-इण्डियन के यहाँ शव ले जाने के लिए गाड़ी आई हुई है। उसे देखकर मास्टर के मन में प्रश्न उठा कि मरने के बाद क्या होता है, लोग कहाँ जाते हैं? यह प्रश्न प्राय: सभी के मन में उठता है। विशेषकर जो लोग भगवान का चिन्तन करते हैं, जिनका मन थोड़ा शुद्ध है, उनके मन में यह प्रश्न उठता है। उपनिषद् में भी कहा गया है –

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ।
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।। कठ. १/१/२०

– मनुष्य की मृत्यु के सम्बन्ध में लोगों के मन में संशय है – कोई कहता है कि परलोकगामी आत्मा का अस्तित्व है और कोई कहता है कि नहीं है।

देहात्मबोध तथा आत्मबोध या पूर्णज्ञान

यह जो प्रश्न है कि मृत्यु के बाद क्या होता है, आत्मा रहती है या नहीं? यह प्रश्न चिरन्तन है। इसके समुचित समाधान का हमें बहुत स्पष्ट रूप से अनुभव नहीं होता, क्योंकि देह के प्रति हमारी आत्मबुद्धि इतनी प्रबल है कि हम सोच भी नहीं पाते कि देह से भिन्न कोई अन्य आत्मा है।

केशव की हालत बड़ी खराब है, इसलिए ठाकुर उन्हें देखने आए हैं। साथ में मास्टर महाशय तथा राखाल भी हैं। उन्हें सीधे केशव के पास नहीं ले जाया गया। उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ रही है, परन्तु ठाकुर केशव को देखने के लिए अत्यन्त व्यग्र हो रहे हैं। इस पर प्रसन्न उनको भुलाए रखने के लिए केशव की वर्तमान अवस्था के बारे में कुछ बताने लगे। वे भी ठाकुर के समान ही माँ के साथ बातें करते हैं, माँ की बातें सुनकर हँसते हैं, रोते हैं। यह सब सुनकर ठाकुर को भावान्तर हो गया। भावाविष्ट होकर वे क्रमश: समाधिस्थ हो गए। जब बाह्य जगत से मन को हटाकर कोई विशेष चिन्तन किया जाता है,

तब भावावेश होता है और उसके बाद समाधि होती है, अर्थात जहाँ द्रष्टा का कोई पृथक अस्तित्वबोध नहीं रह जाता और चिन्तन के विषय में मन पूरी तरह से निमग्न हो जाता है। ठाकुर भी इस समय क्रमश: समाधिस्थ हो गये। किसी प्रकार उन्हें बगल के कमरे में ले जाया गया। इस समय थोड़ा होश आ रहा है। कमरे की वस्तुओं को देखकर भावावस्था में ही वे कहते हैं, "पहले इन सब वस्तुओं की आवश्यकता थी, अब क्या जरूरत है?" भगवान के साथ जब तक घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक ठाट-बाट, साज-सज्जा की आवश्यकता होती है। अब अर्थात जब केशव भगवान में निमग्न हो गए हैं, तो ये सब उसके लिए निरर्थक हैं। इसके बाद वे भावावेश में जगदम्बा से बातें करने लगे। स्वयं कहने लगे, "देह पैदा हुआ है और नष्ट होगा, परन्तु आत्मा की मृत्यु नहीं होती।" मनुष्य का अपरिपक्व मन सोचता है कि शरीर के साथ आत्मा का अच्छेद्य सम्बन्ध है, परन्तु मन जब परिपक्व होता है, तब देह और आत्मा – दोनों का अलग अलग बोध होता है।

इसके बाद केशव ने बड़े कष्टपूर्वक पूर्व की ओर के द्वार से कमरे में प्रवेश किया। उनके अस्थिमात्र शरीर को देखकर सभी विस्मित हैं। केशव ने भूमिष्ठ होकर बहुत देर तक प्रणाम किया, किन्तु ठाकुर की दृष्टि केशव की ओर नहीं है, वे आत्मस्थ हैं। उनके मन को बाह्य जगत में लौटा लाने को केशव उच्च स्वर में कहते हैं, "मैं आ गया, मैं आ गया।" ठाकुर भाव के नशे में बिल्कुल मतवाले हैं। अपने आप कितनी ही बातें कह रहे हैं। सभी भक्त अवाक होकर सुन रहे हैं। ठाकुर बोलते चले जा रहे हैं, "जब तक उपाधि है, तभी तक अनेक का बोध हो सकता है, जैसे केशव, प्रसन्न, अमृत – ये सब। पूर्ण ज्ञान होने पर एकमात्र चैतन्य का ही बोध होता है।" वेदान्त के 'उपाधि' शब्द की हम कई बार व्याख्या कर चुके हैं। दो दृष्टिकोण हैं – अनुलोम विचार और विलोम विचार। अनुलोम विचार में नेति नेति करके वैचित्र्य को हटाकर एक तत्त्व में प्रतिष्ठित हुआ जाता है और विलोम विचार में कहते हैं कि ब्रह्म ही जीव-जगत तथा चौबीस तत्त्व हुए हैं। पूर्णज्ञान होने पर अनुलोम–विलोम – दोनों तरह से जगत में सर्वत्र ब्रह्म को अनुस्यूत देखा जाता है। इसे ही ठाकुर विज्ञानी की अवस्था कहते हैं। तथापि शक्ति का भेद है। वे ही सब हुए हैं, किन्तु कहीं पर अधिक शक्ति और कहीं कम शक्ति की अभिव्यक्ति है। आधार के अनुसार शक्ति की अभिव्यक्ति का तारतम्य है। इस सम्बन्ध में उपनिषद कहते हैं –

यथादर्शे तथाऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके
छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।। कठ. २/३/५

– यहाँ बताया गया है कि विभिन्न व्यक्तियों में यह ब्रह्मानुभूति किस किस रूप में प्रकट होती है – दर्पण में जैसे वस्तु सुस्पष्ट दिखाई देती है, वैसे ही बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है। स्वप्न में जैसे अस्पष्ट दिखाई देता है, उसी तरह पितृलोक में ब्रह्म अस्पष्ट रूप में उदित होता है। जल के ऊपर छाया पड़ने पर जैसा दिखाई देता है, उसी तरह गन्धर्वलोक में ब्रह्मानुभूति और भी अस्पष्ट होती है। किन्तु ब्रह्मलोक में ब्रह्मानुभूति अत्यन्त स्पष्ट होती है। अंधकार और प्रकाश जैसे सम्पूर्ण भिन्न दिखाई देते हैं। अत: ब्रह्म ही वहाँ स्पष्टतम रूप में अनुभूत होता है।

ब्रह्म का प्रकाश जैसे विभिन्न लोकों में विभिन्न प्रकार के होते हैं, उसी तरह ठाकुर यहाँ कहते हैं कि विभिन्न व्यक्तियों के हृदय में ब्रह्म विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। भक्त के हृदय में वे एक प्रकार से और ज्ञानी के हृदय में दूसरे प्रकार से प्रकट होते हैं। फिर मोहग्रस्त जीव के हृदय में वे और भी अलग प्रकार से प्रकाशित होते हैं। विद्यासागर महाशय सब को समदृष्टि से देखना चाहते हैं, इसलिए सोचते हैं कि सबमें समान शक्ति है। परन्तु ठाकुर कहते हैं, "वे जिस आधार में अपनी लीला का विकास दिखलाते हैं, वहाँ शक्ति की विशेषता रहती है।" अगर ऐसा न होता तो एक आदमी में पचास आदमियों को हराने की शक्ति कहाँ से आती? ईश्वर की शक्ति का विशेष प्रकाश हुए बिना यह सम्भव नहीं है। गीता में कहा गया है –

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम् ।। १०/४१

– "जो कुछ भी ऐश्वर्यवान है, सौन्दर्यसम्पन्न और विशेष शक्तिविशिष्ट है, उन सब को मेरे तेज का अंशभूत समझो।" केवल शक्ति का तारतम्य मात्र है।

फल के द्वारा शक्ति की अभिव्यक्ति का अनुमान

इसके बाद ठाकुर कहते है, "इसका लक्षण क्या है? जहाँ कार्य की अधिकता है वहाँ शक्ति का विशेष प्रकाश है।" कर्म के द्वारा शक्ति का अनुमान होता है। जहाँ कार्य का आधिक्य है, वहाँ शक्ति की विशेष अभिव्यक्ति समझना होगा। "यह आद्याशक्ति और परब्रह्म दोनों अभेद हैं। एक को छोड़ दूसरे का चिन्तन नहीं किया जा सकता।" जहाँ पर निर्गुण ब्रह्म है, वहाँ शक्ति का कोई तारतम्य भी नहीं है, कर्म भी नहीं है, वैचित्र्य भी नहीं है और किसी विषय का अनुभव भी नहीं है। पर जहाँ वैचित्र्य है वहाँ लघु, बृहत आदि पार्थक्य का अनुभव होता है, शक्ति की अभिव्यक्ति का तारतम्य भी होता है। इसलिए कहते हैं कि ब्रह्म और शक्ति के बीच अभेद सम्पर्क है। न्याय की भाषा में इसे समवाय या नित्य सम्बन्ध कहते हैं और वेदान्त की भाषा में यह तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध है। "आद्याशक्ति ने ही इस जीव-प्रपंच और चौबीस तत्त्वों का रूप धारण किया है।"

सत्वगुणी भक्तों में ब्रह्म की विशेष अभिव्यक्ति

दृष्टान्त देते हुए ठाकुर कहते हैं, "राखाल, नरेन्द्र तथा अन्य लड़कों के लिए क्यों मैं इतना सोच-विचार किया करता हूँ?" भोलानाथ से पूछने पर उसने बताया कि समाधिस्थ मनुष्य समाधि उतरने के बाद सतोगुणी भक्तों को लेकर रहता है। ठाकुर इन लड़कों में भगवान की विशेष अभिव्यक्ति देख पाते हैं, इसीलिए वे उनको लेकर इतने आनन्द में रहते हैं। जहाँ पर उनका प्रकाश अधिक है, वहाँ आकर्षण भी अधिक है।

इसके बाद वे कहते हैं, "भावसमुद्र उमड़ने पर स्थल में भी एक बाँस पानी हो जाता है।" भगवान को प्राप्त कर लेने के बाद सभी वस्तुओं में उनके दर्शन होते हैं। "जहाँ जहाँ दृष्टि पड़े, वहाँ वहाँ कृष्ण खड़े।" अन्यत्र उन्होंने दृष्टान्त दिया है – छत पर पहुँचने पर हम देखते हैं कि जिस वस्तु से छत बनी है, उसी से सीढ़ियाँ भी बनी हैं। इसीलिए समाधि से उतरते समय समाधिस्थ व्यक्ति एक सूत्र पकड़े रहता है और वह सूत्र सर्वत्र ओतप्रोत हुआ रहता है। वह देखता है कि एकमात्र वे ही सर्वत्र विराजमान हैं।

जो ब्रह्म हैं वे ही शक्ति हैं

इसके बाद ठाकुर कहते हैं, "जो ब्रह्म हैं, वे ही आद्याशक्ति भी हैं। जब वे निष्क्रिय हैं, तब उन्हें ब्रह्म कहते हैं, पुरुष कहते हैं। जब सृष्टि, स्थिति, प्रलय – ये सब करते हैं, तब उन्हें शक्ति कहते हैं, प्रकृति कहते हैं।" स्मरण रखना होगा कि यह सांख्य-दर्शन की प्रकृति नहीं है। सांख्य में पुरुष निर्गुण चैतन्य है और शक्ति जड़ और पूर्णतः पृथक वस्तु है। वहाँ चैतन्य के सान्निध्य से प्रकृति विविध रूपों में परिवर्तित हो रही है। परन्तु वेदान्त एवं शाक्त मत में प्रकृति को परमेश्वर का ही एक स्वरूप कहा गया है। एक पुरुष के ऊपर ही प्रकृति की सृष्टि–स्थिति–प्रलय की क्रिया आधारित है और वह शक्ति पुरुष पर आश्रित है। इसीलिए शाक्त मत में शक्ति शिव के ऊपर खड़ी हैं। शिव शक्ति के आधार हैं। शक्ति शिव के आधार को छोड़कर अन्यत्र कहीं ठहर नहीं सकती। शिव भी यदि शक्ति का आश्रय नहीं लेंगे तो वे जगत की सृष्टि–स्थिति–प्रलय आदि नहीं कर सकेंगे। ये शिव ही शुद्ध परमेश्वर रूपी चैतन्य हैं। इसलिए ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं।

जब तक भेद-ज्ञान रहता है, तब तक पुरुष और प्रकृति दो अलग अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु केवल पुरुष या केवल प्रकृति की कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ भी वैचित्र्य है, वहाँ दोनों को मानना पड़ता है। दोनों पृथक वस्तु नहीं हैं। दोनों को अभिन्न रूप से अर्थात एक-दूसरे का आधार अथवा एक-दूसरे की अभिव्यक्ति के रूप में सोचना पड़ता है। और जहाँ कही भी वैचित्र्य हो, वहाँ प्रकृति का राज्य मानना होगा।

जगदम्बा रूप कल्पवृक्ष

इसके बाद ठाकुर केशव की ओर उन्मुख होकर कहते हैं, "माँ! कौन सी माँ? जगत की माँ – जिन्होंने जगत की सृष्टि की; जो उसका पालन कर रही हैं; जो अपनी सन्तानों की सदा ही रक्षा करती हैं; और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – जो व्यक्ति जो कुछ चाहता है, उसे वही देती है।" वे ही जगत की माँ हैं। वे ही संहार भी करती हैं। संहार का अर्थ हत्या नहीं, अपितु अपने भीतर सम्यक रूप से आहरण कर लेना है। वे अपने ही भीतर से जगत को प्रकट करती हैं, कुछ काल रखती हैं और फिर अपने ही भीतर उसे समेट लेती हैं।

एक और भी विचारणीय बात है। ये माँ जो व्यक्ति जो चाहता है, उसे वही देती हैं। **आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा** (दुर्गासप्तशती १३/५) – आराधना किये जाने पर वे जगत की सुख-समृद्धि भी देती हैं और स्वर्ग भी देती हैं। चाहने पर मुक्ति, अपवर्ग आदि भी देती हैं। अब हम यदि कहें कि उन्होंने हमे बन्धन में क्यों रखा है? तो सवाल उठता है कि उन्होंने बन्धन में रखा है या हमने स्वयं स्वीकार किया है? हम यदि बन्धन न चाहें, और इससे मुक्ति के लिए उनसे प्रार्थना करें, तो वे बन्धन खोल देने के लिए तैयार ही बैठी हैं। परन्तु हमारी प्रार्थना क्या होती है? – "माँ, हमारा कल्याण करो, सन्तानों का कल्याण करो, उनकी सन्तानों का कल्याण करो।" यही सब हम चाहते हैं। यह सब छोड़कर हम केवल माँ को नही चाहते, इसलिए माँ भी उदासीन रहती हैं। जब हम खिलौना फेंककर माँ को चाहेंगे, तब वे अवश्य ही हमें अपनी गोद में उठा लेने के लिए दौड़ी आएँगी। सुरथ राजा ने स्वर्गलोक आदि चाहा था, इसलिए माँ ने उसे ऐसा स्वर्गलोक दिया कि जहाँ भोगों की पराकाष्ठा थी। दूसरी ओर समाधि वैश्य ने मोक्ष माँगा था, इसलिए माँ ने उसे मोक्ष

दिया । ठाकुर कहते हैं – संध्या होने पर छोटा बच्चा खिलौने छोड़कर केवल माँ को पुकारता है, बाकी सब कुछ उठाकर फेंक देता है । इसी प्रकार यदि हमारे जीवन में भी किसी दिन माँ के लिए ऐसी ही व्याकुलता आ जाय, तो फिर माँ रुक नहीं सकती, दौड़कर आ जाती हैं । उन्होंने खेल की व्यवस्था कर रखी है और खेल हो जाने के बाद अपना शान्तिमय गोद भी रखा है । जिसे जो चाहिए, उसे वे वही देती हैं ।

ईश्वर भक्ति के वश में

केशव की यह बीमारी उनके जीवन का दीप बुझा देनेवाली है, शायद इसीलिए ठाकुर सतत भगवच्चर्चा किए जा रहे हैं । फिर एक कारण और भी है – हमारा यह नश्वर शरीर वस्तुत: ईश्वर-चिन्तन के लिए ही है । अत: केशव के साथ भगवच्चर्चा करके ठाकुर मानो सभी को समझा दे रहे हैं कि भगवच्चर्चा ही सार है और बाकी सब कुछ अनित्य है ।

वे केशव से कहते हैं – जिसे हम अपना समझते हैं, उसके ऐश्वर्य की बात मन में नहीं आती । ईश्वर को अपना समझना चाहिए, उनके ऐश्वर्य के बारे में अधिक नहीं सोचना चाहिए । दृष्टान्त देते हुए कहते हैं – तुम्हें जरूरत है एक बोतल शराब की; कलवार की दुकान में कितने मन शराब है, यह जानने की क्या आवश्यकता? तात्पर्य यह कि भगवान के ऐश्वर्य का विचार छोड़कर, उनसे प्रेम करो, उनके साथ घनिष्ठता करो और बाद में जरूरत होने पर वे स्वयं ही अपना सारा ऐश्वर्य दिखा देंगे । असल में मनुष्य स्वयं ऐश्वर्य का इच्छुक है, इसीलिए सोचता है कि ईश्वर भी ऐश्वर्य चाहते हैं । वह भगवान के लिए गहने बनवाता है । विष्णु मन्दिर से गहने चोरी हो जाने पर मथुर बाबू के उलाहना देने पर ठाकुर ने कहा था – तुम्हारे लिए ही ये गहने मूल्यवान हैं, उनके लिए तो ये सब मिट्टी के ढेले हैं । ठाकुर कहते हैं, "क्या ईश्वर भी ऐश्वर्य के वश में हैं? वे तो भक्ति के वश में हैं । जानते हो, वे क्या चाहते हैं? वे रुपया नहीं चाहते – भाव, प्रेम, भक्ति, विवेक, वैराग्य – यह सब चाहते हैं ।" विवेक-वैराग्य से सम्पन्न भक्त जानता है कि इन सब ऐश्वर्यों में ईश्वर की कोई रुचि नहीं है । इसीलिए ठाकुर तीन प्रकार के भक्तों की बात कहते हैं – सत्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी । तमोगुणी भक्त ईश्वर को पशुबलि देता है । रजोगुणी भक्त आडम्बर करके पूजा करता है और सत्वगुणी भक्त गोपनीयता के साथ साधारण आयोजन के साथ पूजा करता है । भगवान वस्तुत: विवेक, वैराग्य, प्रेम, भक्ति ही चाहते हैं ।

तीव्र वैराग्य

परम वैरागी सनातन गोस्वामी के जीवन में ऐसे ही तीव्र वैराग्य की बातें हैं । वे अपने प्रभु से कहते हैं, "आज तुम नमक माँग रहे हो, कल कहोगे माखन दो, उसके बाद और कुछ दो, यह सब हमसे नहीं होगा । मेरे पास जो कुछ है, तुम्हें वही ग्रहण करना होगा ।" इसी का नाम वैराग्य है । एक दृष्टान्त और है – एक व्यापारी की डूबती नौका जब सनातन गोस्वामी के स्पर्श से तैरने लगी, तो व्यापारी ने देवता का मन्दिर बनवा दिया । इस पर सनातन गोस्वामी ने कहा, "प्रभो, मैं समझ गया, अब तुम्हें भोग की इच्छा हो गई है । तो फिर तुम अपने भोग लेकर रहो, हमें वह सब रास नहीं आएगा । मैं तो चला ।" तीव्र वैराग्य होने पर भक्त भगवान के लिए भी किसी भोग का आयोजन सह नहीं पाता ।

तीव्र भावावेग का फल

केशव सेन से वार्तालाप करते हुए ठाकुर कहते हैं, "तुम्हें बीमारी हुई, इसका अर्थ है। शरीर के भीतर कितने ही भावों का उदयास्त हो चुका है, इसीलिए ऐसा हुआ है।" ठाकुर के जीवन में इसका अनुभव तो है ही, श्री चैतन्यदेव के जीवन में भी है। भाव के आवेग से उनके शरीर के रोगकूप से रक्तस्राव होता था। बहुत उच्चशक्ति (high voltage) के वैद्युतिक तार का स्पर्श करने पर जैसा होता है, उसी तरह पूरे शरीर में भाव का प्रवाह हो जाता है। इसलिए सत्वगुणी शरीर न होने पर भाव के वेग को सहन नहीं किया जा सकता। भाव का शरीर पर कितना प्रभाव पड़ता है, इसका साधारण मनुष्य भी थोड़ा-बहुत अनुभव कर सकता है। जब मनुष्य को तीव्र आनन्द अथवा शोक का अनुभव होता है, तब देह पर उसकी प्रतिक्रिया होती है। कभी कभी सुनने में आता है कि कोई व्यक्ति दुर्घटना की खबर सुनकर मूर्छित हो गया। भाव का वेग सहन न कर पाने से अचेत हो गया। किन्तु भगवदानन्द तो इतना तीव्र होता है कि खूब शुद्ध-सत्त्व शरीर न रहने पर वह उसकी धारणा ही नहीं कर सकता। ठाकुर स्वयं अपनी अनुभूति के आधार पर कहते हैं, "जब भाव होता है तब कुछ समझ में नहीं आता, बहुत दिनों बाद शरीर पर झोंका लगता है।" मानो उथल-पुथल मच जाती है। केशव से कहते हैं – जैसे रोग पूरा पूरा ठीक हुए बिना डॉक्टर अस्पताल से छुट्टी नहीं देते, वैसे ही शुद्धता में थोड़ी भी कमी रहने तक वे भी नही छोड़ते। भगवान के रास्ते पर जाने पर समस्त वेग, सारे कष्ट सहन करने होंगे। दूसरा कोई उपाय नहीं। ठाकुर कहते हैं, "हृदु कहता था – न तो मैंने ऐसा भाव देखा है और न ऐसा रोग!" असल में उस समय ठाकुर में देहबुद्धि तो थी नहीं, देह पर क्या बीत रही है, यह प्रश्न ही उनके मन में नहीं आता था। मन तब सूक्ष्मतत्त्व में स्थिर था। इसके बाद वे केशव से कहते हैं, "सर्दी लगाने के उद्देश्य में माली बसरा-गुलाब को छाँटकर उसकी जड़ खोल देता है। ओस लगने से पेड़ अच्छी तरह उगता है, शायद इसीलिए वह तुम्हारी जड़ खोल रही है।" अर्थात यह रोग से भुगतना मानो भविष्य की किसी विराट सम्भावना का सूचक है। पिछली बार केशव की बीमारी के समय ठाकुर का मन बहुत व्याकुल हुआ था, किन्तु इस बार मानो उनके मन में स्वीकार कर लिया है कि केशव अधिक दिन नहीं बचेंगे, इसीलिए वे इतने व्याकुल नहीं होते।

इसके बाद जब केशव सेन की माँ ने ठाकुर से केशव का रोग दूर कर देने के लिए अनुरोध किया, तब वे बोले, "माँ आनन्दमयी को पुकारो, दु:ख वे ही दूर कर सकती हैं।" फिर केशव से बोले, "घर के भीतर इतना न रहा करो। पुत्र-कन्याओं के बीच में रहने से और डूबोगे, ईश्वरीय चर्चा होने पर अच्छे रहोगे।" संसार का परिवेश मन को नीचे गिरा देता है, इसीलिए ठाकुर सावधान कर रहे हैं।

ठाकुर शरीर के लक्षण देखकर व्यक्ति का चरित्र समझ जाते थे। केशव के हाथ का वजन करके वे देख रहे हैं कि हल्का है या भारी। कह रहे हैं, "दुष्टों का हाथ भारी होता है।" तथापि शारीरिक दोष सर्वदा सही नहीं होते।

पूर्ण समर्पण

केशव की माँ द्वारा केशव को आशीर्वाद देने के लिए अनुरोध करने पर ठाकुर कहते हैं,

– जगन्माता ही सब करती हैं। ठाकुर स्वयं को जगन्माता का यंत्र समझते हैं। कहते हैं – "मनुष्य का मोह जाना नहीं चाहता। दो दिन बाद ही इस धरती को छोड़कर सभी को चले जाना होगा, फिर भी जमीन को लेकर भाई भाई विवाद करते हैं।" हम अपनी इच्छा माँ को बता सकते हैं, प्रार्थना कर सकते हैं, किन्तु करना या न करना, सब उनके हाथ में है। फिर हम जो चाहते हैं, वह वास्तव में हमारे लिए कल्याणकर है या नहीं, यह भी तो हम नहीं जानते। हम शुभ-अशुभ का विचार भी नहीं कर सकते। इसीलिए ठाकुर कहते हैं – सब उनके हाथों में छोड़ दो, वे ही तुम्हारा कल्याण करेंगी।" निर्भरशील साधक कभी स्वयं को दु:ख-कष्ट से बचाने के लिए भगवान से प्रार्थना नहीं करता। ईसा मसीह एक बार विपत्ति से मुक्ति पाने के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं, पर दूसरे ही क्षण कहते हैं, "नहीं, मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी जो इच्छा हो वही करो।" Thy will be done and not mine. यह हुई देह पर आत्मा की विजय। एक बार ठाकुर के शिष्यों ने उनसे कहा था, "योगशास्त्र में लिखा है कि बीमार देह पर मन को एकाग्र करने से अस्वस्थ अंग स्वस्थ हो जाता है। आप भी ऐसा ही करें।" ठाकुर कहते हैं, "अरे, यह क्या, जो मन ईश्वर को दे दिया है, उसे अब देह को कैसे दूँ?" ऐसी थी ठाकुर की पूर्ण निर्भरशीलता। कर्तृत्वबोध जब पूरी तरह से दूर हो जाता है, तब स्वयं के अच्छे-बुरे के लिए कोई प्रार्थना ही नहीं रह जाती। साधारण मनुष्य में यह पूर्ण निर्भरता नहीं आती, इसीलिए भक्तों से कहता हूँ, जब तक मन में चाह है, तब तक चाहोगे क्यों नहीं? प्रभु को अपना समझकर कुछ इच्छा रखने में दोष नहीं है। फिर भी ठाकुर कहते हैं – छोटी-मोटी चीजों को चाहने की अपेक्षा उन्हें ही चाहना अच्छा है। असल बात यह है कि भगवान को उद्देश्य के रूप में ग्रहण करना होगा, उपाय के रूप में नहीं। ऐसा न होने पर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाओगे।

अतएव यही असल बात है कि उनको पाकर हमें परिपूर्ण होना होगा, क्योंकि उनके अतिरिक्त बाकी सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। इसलिए ठाकुर कहते हैं कि पहले उन्हें पकड़ो, उनका सहारा लो, बाबू को जान पाने पर अपनी सारी खबर वे स्वयं दे देंगे। ध्रुव की कथा में यही बात कही गयी है। तपस्या के अन्त में ध्रुव भगवान का दर्शन पाकर आनन्दविभोर हो उठे थे। पहले उनके मन में जो अभिलाषा थी, उसको अब पूर्ण करने का कोई आग्रह नहीं रहा। ध्रुव कहते हैं – मैं काँच खोजते खोजते कांचन पा गया हूँ। इसी से मेरा हृदय भर गया है, अब और किसी चीज की जरूरत नहीं है। इसी का नाम है – **आत्मारामो भवति** – यही है स्वयं के आनन्द में परिपूर्ण रहना, इसी में जीवन की पूर्ण सार्थकता है।

ठाकुर का आशीर्वाद

अमृत द्वारा केशव के बड़े लड़के को आशीर्वाद देने के लिए कहने पर ठाकुर उसके शरीर पर हाथ फेरते हुए बोले, "मुझे आशीर्वाद नहीं देना चाहिए।" आशीर्वाद देने का अर्थ है लोगों की कल्याण-कामना। वे नहीं कर सकते, ऐसी बात नहीं है, बल्कि यह तो उनका नित्य-कर्म है, परन्तु आशीर्वाद का अर्थ यदि ऐहिक सुख-कामना को पूर्ण करना या भविष्यवाणी करना हो, तो ऐसा वे नहीं कर पाते थे। माँ से उन्होंने इस तरह की शक्ति नहीं चाही, केवल शुद्धाभक्ति माँगी थी। साधु के पास आकर अधिकांश लोग रोगमुक्ति, आर्थिक लाभ या अन्य संकटों से मुक्ति की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। ऐसी कोई कामना लेकर साधु

के पास जाना ठाकुर को पसन्द नहीं था, क्योंकि इससे मनुष्य का मन भगवान को छोड़कर ऐहिक विषय की ओर चला जाता है। वैसे विषयासक्त मनुष्य के लिए यह सब चाहना स्वाभाविक है। उसमें दोष भी नहीं। पर ठाकुर ने अपनी इच्छा को जगन्माता की इच्छा में विलीन कर दिया है। अत: जगन्माता की जो इच्छा होगी वही हो, यही उनकी इच्छा है।

दयानन्द सरस्वती

इसके बाद ठाकुर केशव के बारे में कहते हैं कि दयानन्द सरस्वती उनके विषय में बड़ी उच्च धारणा रखते थे। केशव असाधारण वाग्मी थे। ऐहिक सम्पदा प्रतिपत्ति आदि भी थी, इसीलिए ऐहिक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति भी उनको मानते थे और उनकी ईश्वरभक्ति, भगवद्-विषयक अनुराग आदि देखकर साधु लोग भी उनको मानते थे। सर्वत्र ही उनका मान-सम्मान था। दयानन्द के आर्यसमाजियों के प्रसंग में ठाकुर कहते हैं – वे लोग होम करते हैं। देवी-देवता नहीं मानते। कहते हैं कि कर्म के द्वारा ही फल होता है। निरीश्वरवादी मीमांसकों का भी ऐसा ही मत है। वे लोग कहते हैं कि ईश्वर की कोई आवश्यकता नही। दूसरी ओर ईश्वरवादी मीमांसक कहते हैं कि ईश्वर फलदाता तो अवश्य हैं, परन्तु कर्म का फल देने के मामले में उन्हें कोई स्वाधीनता नहीं है। जैसा कर्म करोगे, ईश्वर को वैसा ही फल देना होगा। बैंक में जमा रुपये की तरह, जितना जमा किया जाता है, उतना ही वापस मिलता है, उसी तरह उस मत में ईश्वर को भी माना जाता है।

केशव के शिष्यों के सामने ठाकुर केशव की प्रशंसा करते हुए कहते हैं – केशव गुरु की पदवी नहीं लेना चाहते। कहते – "जो कुछ सन्देह हो, 'वहाँ' जाकर पूछ लो।" इस 'वहाँ' के दो अर्थ हो सकते हैं – एक तो ईश्वर से पूछना और दूसरा दक्षिणेश्वर जाकर श्रीरामकृष्ण से पूछना – वहाँ सभी प्रश्नों के उत्तर मिल जायेंगे। इसलिए ठाकुर कहते हैं – "ये कोटिगुना और बढ़ें, मैं मान लेकर क्या करूँगा? ◻(क्रमश:)◻

अमरत्व का पथ

पहले तो सब संकीर्ण धारणाओं का त्याग करो, प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का दर्शन करो - देखो, वे सब हाथों से काम कर रहे हैं, सब पैरों से चल रहे हैं, सब मुखों से भोजन कर रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति में वास कर रहे हैं, सभी मनों के द्वारा वे मनन कर रहे हैं - वे स्वतःप्रमाण हैं - हमारे निज की अपेक्षा वे हमारे अधिक निकटवर्ती हैं। यही जानना धर्म है - यही विश्वास है; प्रभु हमको यह विश्वास दें। जब हम समस्त संसार में इस अखण्ड का अनुभव करेंगे, तब अमर हो जाएँगे।

— स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोग (३२/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके बत्तीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – स०)

रामकथा मन्दाकिनी है। इस मन्दाकिनी नदी का जन्म कैसे हुआ –

अत्रिप्रिया निज तपबल आनी॥ २/१३२/५

अनसूयाजी ने अपने तपोबल से इसे धरती पर प्रकट किया। अत्रिप्रिया कौन हैं? जिनमें असूयावृत्ति का लेश भी नहीं है, वे ही अनसूया अत्रिप्रिया हैं। इसका तात्पर्य क्या है? भगवान की कथा का वाचक कौन बनेगा? क्या वह, जो अपनी बुद्धिमत्ता और युक्तियों से भगवान में भी दस दोष निकालकर दिखा दे? दोष दिखाना तो सरल है, पर दोष दिखानेवाला फिर भगवद्गुण क्या कहेगा? रामकथा क्या कहेगा? जो व्यक्ति प्रतिकूलता में भी भगवान के गुण देख सके, उल्टा प्रतीत होने पर भी भगवान की कथा में विशेषता देखे, ऐसी अनसूया की दृष्टि आए बिना भगवान की कथा कैसे होगी?

यह अनसूयावृत्ति काकभुशुंडि जी में दिखाई दे रही है। उन्होंने कहा – महाराज, देखिए, चन्दन तो शीतल ही होता है उष्ण नहीं। लोमशजी तो चन्दन थे, पर भूल मेरी थी। किसी ने सुना कि चन्दन को घिसकर माथे पर लगाने से बड़ी शीतलता का अनुभव होता है। वह चन्दन को सीधे पत्थर पर ही घिसने लगा। इससे पत्थर भी गर्म होने लगा और चन्दन भी। वह सोचने लगा कि सब लोग व्यर्थ ही चन्दन की शीतलता की बड़ी प्रशंसा किया करते हैं। यह तो सत्य नहीं है। घिसने पर तो यह उल्टे गर्म हो गया। तब किसी बुद्धिमान व्यक्ति ने बताया कि चन्दन वस्तुत: शीतल ही है, परन्तु उस शीतलता को व्यक्त करने की भी एक पद्धति है। उसे न जानने के कारण ही तुम ऐसा उल्टा परिणाम पा रहे हो। चन्दन की शीतलता पाने के लिए पत्थर और चन्दन के बीच पानी की भी आवश्यकता होती है। पत्थर पर थोड़ा पानी डालकर घिसना पड़ता है। बिना पानी डाले घिसने पर तो उष्णता की ही अनुभूति होगी। इसी प्रकार सन्त भी चन्दन हैं, जब उन्हें श्रद्धारूप जल के साथ घिसा जाएगा, तभी उनकी कृपारूपी शीतलता मिलेगी। किन्तु श्रद्धाशून्य होकर केवल तर्क-वितर्क का घर्षण करने से तो ताप ही उत्पन्न होगा। काकभुशुंडि जी ने कहा –

सुनु प्रभु बहुत अवग्या किएँ। उपज क्रोध ग्यानिन्ह के हिएँ।
अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई॥ ७/१११/१६

– अत्यधिक अपमान किये जाने पर ज्ञानी के हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही जैसे यदि कोई चन्दन की लकड़ी को खूब रगड़े तो उससे भी अग्नि प्रकट हो जाती है।

यह जो काकभुशुंडि जी के हृदय में अनसूया-वृत्ति का उदय हुआ, उसका परिणाम क्या हुआ? भले ही लोमशजी के मन में एक क्षण के लिए क्रोधरूप दोष आ गया था, पर थे तो वे सन्त ही। उन्हें क्रोध आया भी तो इस बात पर कि मैं तो इसका कल्याण करना चाहता हूँ, पर यह ग्रहण ही नहीं कर रहा है। इस क्रोध के पीछे भी कल्याण कामना ही थी, अतः उसका परिणाम भी कल्याणकारी ही हुआ। इसका संकेत अन्त में मिलता है जब भुशुंडिजी गरुड़जी से कहते हैं कि महाराज, क्या कहूँ, गुरुजी ने कितनी बढ़िया दवा दी है —

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप ॥ ७/११४

— "मैं जब हठपूर्वक भक्ति के पक्ष में अड़ा रहा, तो महर्षि लोमश ने मुझे श्राप दे दिया।" उन्हें क्रोध तो आया पर क्रोध में भी उन्होंने क्या किया? एक व्यक्ति तो वह है जो क्रोध में पत्थर फेंककर मारता है और एक वह वैद्य भी है जो क्रोध में मुख पर दवा की पुड़िया फेंककर मार देता है। पर ऐसे व्यक्ति का क्रोध भी हितकर है, क्योंकि उन पुड़ियों में आखिर दवा ही तो है, उसे ग्रहण करने से तो स्वस्थता ही प्राप्त होगी। ऐसा तो नहीं कि क्रोधपूर्वक दी गई दवा कोई उल्टा असर करे। भले ही क्रोध करके दिया, पर दिया तो दवा ही न! अब दवा तो अपना असर दिखाएगी ही। काकभुशुंडि जी ने बताया कि क्रोध में भी उन्होंने मेरा कितना बड़ा कल्याण किया। मैं तो मनुष्य बनकर भगवान को पाना चाहता था, ब्राह्मण के रूप में लोमशजी के पास गया था और उन्होंने मुझे कौआ बना दिया। कितनी बड़ी कृपा हो गई? ब्राह्मण बनकर जाता तो न जाने कितने समय में पैदल चलकर अयोध्या पहुँचता? अयोध्या पहुँचने पर भी गुरु वशिष्ठ से प्रार्थना करनी पड़ती कि महाराज, किसी दिन भगवान राम का दर्शन करा दीजिए। भगवान को पाने का मार्ग बड़ा लम्बा हो जाता। किन्तु गुरु की कृपा से मार्ग कितना सरल हो गया। उन्होंने मुझे कौआ बना दिया। कौए को चलने का भी श्रम नहीं करना है, वह तो सीधे उड़कर पहुँच जाएगा और महल में प्रवेश करने के लिए भी किसी से पूछने-ताछने की जरुरत नहीं, सीधे आँगन में उतर गये, जहाँ भगवान बालक-रूप में खेल रहे हैं। मैंने सरल मार्ग से सीधे ही भगवान राम को पा लिया।

इस तरह से काकभुशुंडि जी के अन्तःकरण का क्रमिक परिवर्तन और विकास अन्त में इस अनसूया-वृत्ति में प्रतिष्ठित होता है। निम्नतम से लेकर उच्चतम तक — प्रत्येक सोपान की उनको अनुभूति हो चुकी है, इसीलिए आज जब वे रामकथा सुना रहे हैं तो उनका प्रत्येक शब्द मानो अनुभूत सत्य है। इसी अनुभव के आधार पर उन्होंने गरुड़जी से कहा —

जे सठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं ॥ ७/१०७/५

— जो मूर्ख अपने गुरु से ईर्ष्या करते हैं, वे करोड़ों युगों तक रौरव नरक में पड़े रहते हैं। यहाँ उनका अभिप्राय यह है कि मैं ईर्ष्या का भी दुष्परिणाम देख चुका हूँ और जब मेरे अन्तःकरण में गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धावृत्ति का उदय हुआ, तब गुरु का कोप भी मेरे लिए कितना कल्याणकारी सिद्ध हुआ, इसका भी मैंने अनुभव किया है।

रावण की भी यही समस्या है। भगवान राम स्वयं ही सेना लेकर रावण पर आक्रमण कर देते, परन्तु ऐसा न करके उन्होंने हनुमानजी को लंका क्यों भेजा? इसलिए भेजा कि

रावण हनुमानजी का शिष्य था। संसार का सबसे बड़ा वैद्य रावण को मिला, परन्तु उसकी भी विडम्बना वही है। भगवान राम का अभिप्राय था कि हनुमान गुरुरूपी वैद्य के रूप में अपने शिष्य के रोगों को दूर करने की चेष्टा करेंगे। हनुमानजी लंका पहुँचकर रावण को दवा देने लगे, भक्ति के उपदेश देने लगे। उपदेश सुनकर रावण की दृष्टि कहाँ गई? सारी कथा का सार उसने क्या निकाला? वह खूब हँसने लगा। उसकी हँसी में व्यंग्य था। हनुमानजी बोले – मेरी बात सुनकर तुम्हें हँसी क्यों आ रही है? रावण ने कहा –

मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी॥ ५/२४/२

मैं जब तुम्हारी सूरत देखता हूँ तो सिर पीट लेता हूँ कि क्या मुझे गुरु के रूप में बन्दर ही मिलना था? साथ ही उसने यह भी कहा – अरे दुष्ट, मृत्यु तेरे निकट आ गई है –

मृत्यु निकट आई खल तोही॥ ५/२४/३

हनुमानजी तो वैद्य थे। वैद्य जब रोगी के पास पहुँचे और रोगी ही वैद्य का निदान करने लगे कि वैद्यजी की शकल कैसी है, उनका ज्ञान कैसा है और कहने लगे कि यह वैद्य तो अब मरने ही वाला है; तो इसका अर्थ तो यही हुआ कि रोगी को उन्माद हो गया है। रावण की बात सुनकर हनुमानजी तुरन्त बोले – बस हो गया। – क्या हो गया? वे समझ गये कि इसकी मृत्यु निकट आ गई है।

उलटा होइहि कह हनुमाना॥ ५/२४/४

मृत्यु तो अवश्य निकट आ गई है, परन्तु वैद्य की नहीं बल्कि रोगी की। रावण के चरित्र का दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यही है कि वह गुरु के प्रति भी ईर्ष्याग्रस्त है और गुरु में भी दोष देखता है। परिणाम यह होता है कि उसका रोग दूर नहीं हो पाता। दूसरी ओर लक्ष्मणजी घनीभूत वैराग्य हैं। जब वे मूर्छित हुए तो हनुमानजी ने उन्हें गोद में उठाया और प्रभु की गोद में पहुँचा दिया। इसका अभिप्राय यह है कि लंका के युद्ध में लक्ष्मणजी के रूप में मानो वैराग्य ही मूर्छित हो गया। भगवान श्री राघवेन्द्र ने एक बार लक्ष्मणजी से पूछा था – तुमने मेरे साथ अयोध्या से चलकर सारे संसार की यात्रा की, उन सभी यात्राओं में तुम्हें किस यात्रा में सर्वाधिक आनन्द आया? लक्ष्मणजी ने बताया कि उन्हें लंका की यात्रा में ही सबसे अधिक आनन्द मिला। भगवान बोले – लंका का मार्ग तो बड़ा कण्टकाकीर्ण था। लक्ष्मणजी बोले – उस समय नहीं था। – तब? लक्ष्मणजी ने कहा – प्रभो! मेघनाद के बाण चलाने पर जब मैं मूर्छित हो गया था, उस समय जो यात्रा हुई, उतनी बढ़िया यात्रा कभी नहीं हुई। प्रभु ने कहा – तुम तो मूर्छित हो गये थे, फिर यात्रा कैसे हुई? लक्ष्मणजी बोले – यही तो आश्चर्य है; चलकर तो व्यक्ति आप तक पहुँचने की चेष्टा करता है और पहुँचता भी है, परन्तु जब मैं मूर्छित हो गया था और हनुमानजी ने मुझे अपनी गोद में उठाकर आप की गोद में दे दिया, तो मुझे तो एक पग भी नहीं चलना पड़ा और मैं सन्त की गोद के माध्यम से भगवन्त की गोद में पहुँच गया।

लक्ष्मणजी जब मूर्छित हो गये थे, तब मेघनाद ने सोचा कि मूर्छित लक्ष्मण को ले जाकर रावण के चरणों में भेंट कर देने में ही इस विजय की सार्थकता है। यहाँ एक संकेत-

सूत्र है। कहा जा सकता है कि इतने बड़े वैरागी लक्ष्मणजी भी क्या काम से पराजित हो सकते हैं? इसके उत्तर में एक दूसरा पक्ष भी रखा जा सकता है और वह ध्यान देने योग्य है। लक्ष्मणजी जब मूर्छित हो गये और मेघनाद ने उन्हें उठाकर ले जाने की चेष्टा की, तो उन्हें उठा नहीं सका। इसका अभिप्राय क्या है ? यह कि लक्ष्मणजी जैसा वैरागी मूर्छित होकर भी मोह के चरणों में नहीं जाएगा। जाएगा, तो ज्ञान की ही गोद में जाएगा। लक्ष्मणजी की मूर्छा में यही एक विलक्षणता है। इस मूर्छा में भगवान की अद्भुत कृपा जुड़ी हुई है। मेघनाद चाहता है कि उन्हें उठाकर रावण के चरणों में डाल दे, वैराग्य मोह का बन्दी हो जाए और मोह अपनी इच्छानुसार उस पर शासन करे, परन्तु यहाँ मेघनाद असमर्थ तथा असफल हो जाता है। तब हनुमानजी ने उन्हें उठाकर भगवान की गोद में पहुँचा देते हैं। इसका अभिप्राय क्या है? लक्ष्मणजी की मूर्छा का तात्पर्य क्या है?

रामायण के विविध पात्रों के जीवन में कभी-न-कभी, कोई-न-कोई समस्या, कोई-न-कोई दोष आ ही जाता है। भले ही ये दोष संसारी व्यक्तियों के समान न हों, परन्तु क्षण भर के लिए तो वे आ ही जाते हैं। लक्ष्मणजी के जीवन में यह रोग आया, हनुमानजी उन्हें उठा लेते हैं और प्रभु की गोद में पहुँचा देते हैं। प्रभु ने लक्ष्मणजी को देखा तो उनकी आँखों में आँसू आ गये। प्रश्न उठा कि अब क्या करें? चाहे शारीरिक हो या मानसिक, परन्तु जब रोग हुआ है तो उसकी चिकित्सा भी होनी ही चाहिए। यहाँ लक्ष्मणजी मूर्छित हो गये हैं और आध्यात्मिक सन्दर्भ में इसका अर्थ यह है कि वैराग्य मूर्छित हो गया है। यह मूर्छा कैसे दूर होगी? भगवान चाहें तो क्षण भर में यह मूर्छा दूर कर सकते हैं, और आगे चलकर उन्होंने ऐसा किया भी। किन्तु भगवान यहाँ पर सीधे अपनी कृपा के द्वारा ऐसा न करके, गुरु तथा साधना के माध्यम से अपनी कृपा का परिचय देते हैं। यह साधना का मार्ग है और भगवान यहाँ अपने चरित्र के द्वारा यही मार्ग प्रकट करते हैं। सर्वशक्तिमान होते हुए भी आँखों में आँसू भरकर विलाप करते हैं। वे चाहते, तो एक क्षण में ही लक्ष्मणजी को चैतन्य कर देते, परन्तु वैसा न करके मानो वे साधना का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

जब लक्ष्मणजी मूर्छित हुए तो भगवान राम बड़े दुखी हुए और अपने जीवन को व्यर्थ अनुभव करने लगे। भरतजी या हनुमानजी के सन्दर्भ में भगवान राम को ऐसा कभी नहीं लगा। इसीलिए 'मानस' में एक अनोखी बात आती है। रामायण में यदि पूरी तरह से ईर्ष्यारहित कोई पात्र है, तो वे लक्ष्मणजी हैं। भरतजी और हनुमानजी में भी ईर्ष्या नहीं है, लेकिन लक्ष्मणजी में ईर्ष्या का जैसा अभाव है, वैसा किसी अन्य में नहीं है। भरतजी और हनुमानजी के सन्दर्भ में ईर्ष्या को कोई कारण ही नहीं है। अभिमान का कारण तो हो सकता है, क्योंकि भगवान राम भरतजी की भी प्रशसा करते हैं और हनुमानजी की भी। प्रशसा सुनकर अभिमान तो हो सकता है, परन्तु ईर्ष्या की कोई सम्भावना नहीं है। किन्तु लक्ष्मणजी के सामने बड़ी समस्या है। लक्ष्मणजी और शत्रुघ्न – ये दोनों भाई इतने ईर्ष्यारहित हैं कि बड़ी-से-बड़ी परीक्षा में भी उनकी वृत्ति पूर्णतः ईर्ष्यारहित बनी रही। दोनों में ईर्ष्या का लेश तक नहीं है। अब भाई भाई में कभी-न-कभी होड़ का भाव आ जाता है,

ईर्ष्या की वृत्ति प्रकट हो जाती है। भगवान राम की कीर्ति संसार में प्रसिद्ध हुई, भरतजी की महिमा को ससार ने जाना, लक्ष्मणजी की तेजस्विता को ससार ने पहचाना, परन्तु शत्रुघ्नजी के बारे में कभी किसी ने कुछ नहीं जाना। फिर भी शत्रुघ्नजी के मन में अपनी महत्ता जानने की इच्छा कभी नहीं आई। उन्होंने अपने अन्तःकरण की इस ईर्ष्यावृत्ति को इतना जीत लिया था कि उनको लक्ष्मणजी, भरतजी और भगवान राम की प्रशंसा में ही इतना उन्माद आता था कि वे उसी में डूबे रहते थे।

उनके जीवन में केवल एक बार ऐसा वर्णन आता है कि जब भगवान राम का राज्य हुआ, तब मथुरा में एक लवणासुर दैत्य के अत्याचारों से पीड़ित एक प्रतिनिधिमण्डल श्रीराम से मिलने आया और बोला – महाराज, इस दैत्य का संहार करके हमारी रक्षा कीजिए। तब वर्णन आता है कि इस सेवा हेतु शत्रुघ्नजी स्वयं प्रस्तुत हो गये। वे सहसा खड़े होकर बोले – प्रभु, आप आज्ञा दें, तो इस असुर का वध मैं कर दूँ। मुस्कान के साथ भगवान बोले – बिलकुल ठीक, यह कार्य शत्रुघ्न ही करेंगे। इतना ही नहीं प्रभु ने आज्ञा दी – छत्र, चमर तथा सिंहासन लाओ। शत्रुघ्नजी ने पूछा – महाराज, इन सबकी क्या आवश्यकता है? प्रभु ने कहा – "लवणासुर का वध करके तुम मथुरा का राज्य करो। मैं तुम्हारा राज्याभिषेक कर देता हूँ। तुम वहाँ रहकर निरन्तर प्रजा की सेवा और रक्षा करो।"

भगवान राम ने तो अपने स्वभाव के अनुरूप शत्रुघ्नजी पर उदारता ही दिखाई पर शत्रुघ्नजी की दृष्टि बड़ी अनोखी है। उनकी आँखों में आँसू आ गये। व्याकुल होकर उन्होंने भगवान से कहा, "प्रभो ! आपने मुझे इतना कठोर दण्ड दिया, लेकिन अब कुछ कहने योग्य मैं इसलिए नहीं हूँ कि अपना अपराध मैं जानता हूँ। मैं आपसे यह कैसे पूछूँ कि आपने यह दण्ड क्यों दिया?" भगवान ने पूछा – कैसा दण्ड? उत्तर में शत्रुघ्नजी ने कितना सुन्दर वाक्य कहा, "महाराज, आप मुझे स्वयं से दूर कर दें, इससे भी बड़ा क्या कोई दण्ड हो सकता है? आप मुझे मथुरा में रहने के लिए कह रहे हैं, लेकिन मैं समझ गया कि यह दण्ड मुझे अपनी ही भूल के कारण मिला। जीवन भर मैं चुप रहा और कभी आगे आने की चेष्टा नहीं की। अब लगता है कि कहीं कोई संस्कार छिपा हुआ था, इसीलिए मैं यह कह बैठा कि यह काम मैं करूँगा और इसीलिए इस अहंकार का दण्ड आपने मुझे दिया है। अब उस दण्ड को सहने के अतिरिक्त मैं कर ही क्या सकता हूँ।" कितनी सजग आत्मनिरीक्षण की वृत्ति है, कितनी विलक्षण दृष्टि है ! शत्रुघ्नजी के जीवन में इतनी निरहंकारिता है कि एक छोटी-सी घटना के लिए उन्हें ऐसा पश्चात्ताप होता है।

दूसरे पात्र हैं लक्ष्मणजी। इस सन्दर्भ में तो वे हनुमानजी और भरतजी से भी आगे हैं। क्यों? इसलिए कि हनुमानजी और भरतजी के सामने ऐसा कोई कारण नहीं है कि जिससे उनके अन्तःकरण में ईर्ष्यावृत्ति का उदय हो, लेकिन लक्ष्मणजी के सामने तो ऐसे कारण बार बार उपस्थित होते हैं। चित्रकूट में भगवान राम लक्ष्मणजी से कहते हैं –

लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥ २/२३२/४

– लक्ष्मण, मैं तुम्हारी तथा पिताजी की शपथ लेकर कहता हूँ कि भरत के समान अच्छा भाई न तो कभी हुआ है और न होगा। लीजिए, यह तो वे लक्ष्मणजी से ही कह रहे हैं। इसका तो सीधा-सा अभिप्राय यही हुआ कि तुम भरत के समान नहीं हो। अब लक्ष्मणजी के स्थान पर कोई और होता तो उसके मन में घोर ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती। लक्ष्मणजी सोच सकते थे कि मैं इतना त्याग करके, पत्नी, परिवार, सुख-सुविधा – सब छोड़कर निरन्तर सेवा में रत हूँ, रात में कभी क्षण भर के लिए भी नहीं सोता और प्रभु मेरी सेवा का तिरस्कार करते हुए भरत की प्रशसा कर रहे हैं। लेकिन नहीं, लक्ष्मणजी के अन्तःकरण में भरतजी की प्रशसा सुनकर ईर्ष्या का कहीं लेश भी नहीं आया। इससे भी कठिन परीक्षा लक्ष्मणजी की उस समय हुई जब भगवान राम से हनुमानजी का मिलन हुआ और हनुमानजी की प्रशंसा करते हुए भगवान राम ने कहा –

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥ ४/३/७

– हनुमान ! तुम तो मुझे लक्ष्मण से दुगने प्रिय हो। इसका अभिप्राय क्या है? क्या वे लक्ष्मणजी को छोटा सिद्ध कर रहे हैं ? श्रीभरत के सन्दर्भ में और हनुमानजी के सन्दर्भ में भी – दोनों प्रसगों में वे लक्ष्मणजी की तुलना में उन्हें श्रेष्ठ कहते हैं। ऐसी स्थिति में लगता है कि लक्ष्मणजी के मन में घोर ईर्ष्या आनी चाहिए। लेकिन लक्ष्मणजी पर भगवान राम का इतना विश्वास था कि ऐसा व्यवहार उन्होंने और किसी के साथ नहीं किया। भगवान राम लक्ष्मणजी के चरित्र के माध्यम से यह बता देना चाहते हैं कि ईर्ष्याशून्य अन्तःकरण कैसा होना चाहिए, भक्त का हृदय कैसा ईर्ष्यारहित होना चाहिए। इसे देखने की दृष्टि हनुमानजी के पास है। इस प्रसंग में भगवान राम ने लक्ष्मण और हनुमान – दोनों की परीक्षा ली। लक्ष्मणजी को तो इस तुलना पर रंचमात्र भी दुख नहीं हुआ। भगवान राम का वाक्य सुनकर उनके मन में ईर्ष्या या विरोध की बात बिलकुल भी नहीं उठी। इसे सुनकर हनुमानजी के मन में अभिमान आ सकता था, परन्तु उन्होंने इसका बहुत बढ़िया अर्थ लिया। भगवान राम ने एक बार हनुमानजी से पूछा, "हनुमान ! तुम्हारी प्रशसा करते हुए मैंने पहले ही दिन यह कह दिया था कि तुम लक्ष्मण से दूने प्रिय हो। अब इससे अधिक प्रशंसा मैं और क्या कर सकता हूँ?" हनुमानजी ने कहा, "महाराज, यह आपने मेरी प्रशंसा थोड़े ही की है। मैं तो बिल्कुल भी नहीं मानता कि इसमें मेरी कोई प्रशंसा है।" – क्यों? बोले – "यदि आप प्रेम की दृष्टि से देखें तो आपने मेरी प्रशंसा की और लक्ष्मणजी की नहीं की, तो नियम तो यही है कि जो अपना है, उसकी प्रशंसा नहीं की जाती। आपने मुझे पराया माना होगा, तभी तो प्रशंसा की। महाराज, इससे तो लक्ष्मणजी के प्रति आपका ममत्व ही सिद्ध होता है। आपने मेरी प्रशसा करते हुए जिस शिष्टाचार का पालन किया, उससे यह स्पष्ट हो गया कि यह प्रशंसा मेरी नहीं, लक्ष्मणजी की ही है। नियम यह है कि जब तीन व्यक्ति खड़े हों, जिनमें से दो परस्पर परिचित हों, तो तीसरे का भी परिचय करा देते हैं। आपने लक्ष्मणजी से मेरा परिचय करा दिया। आप तो वचन में इतने कुशल हैं कि चाहते तो कह सकते थे कि हनुमान, तुम तो मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय हो – **तैं हनुमान प्राणप्रिय मोरे।**

यही कहने की परम्परा है, लेकिन ऐसा न कर आपने जो कहा कि तुम लक्ष्मण से अधिक प्रिय हो, तो मैं समझ गया कि लक्ष्मण तो आपका प्राण ही है। इसलिए आप चाहे प्राण से अधिक प्रिय कहें या लक्ष्मण से अधिक प्रिय, अर्थ एक ही है। क्या? लक्ष्मण आपका प्राण है। यह है हनुमानजी की दृष्टि, और यही सत्य आगे चलकर प्रगट हुआ। जब लक्ष्मणजी लंका के रणांगन में मूर्छित हो गये, तब भगवान को लगा कि उनके प्राण चले गये। उन्होंने कहा – "अब मैं जीवित क्यों हूँ, ब्रह्मा यदि मुझे जीवित रखते हैं, तो उनसे बढ़कर कोई मूर्ख नहीं है। मेरा तो प्राण ही चला गया, अब मैं जीवित क्यों हूँ?" इस सत्य को हनुमानजी ने देख लिया था और लक्ष्मणजी भी इसे खूब गहराई से जानते हैं, प्रेमरस में खूब पगे हुए हैं। जब लक्ष्मणजी की मूर्छा दूर हुई तो सुग्रीवजी ने उनसे पूछा कि मेघनाद ने आपके ऊपर शक्ति का प्रहार किया तो आपको कितना कष्ट हुआ? लक्ष्मणजी ने हँसते हुए कहा – मुझे क्या मालूम? – क्यों? शक्ति आपको लगी, कष्ट आपको हुआ, आप नहीं जानेंगे तो कौन जानेगा ? बोले – शक्ति तो मुझे लगी, पर पीड़ा? पीड़ा तो उनसे पूछो –

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरे ॥ गीतावली ६/१५

लक्ष्मणजी के मूर्छित हो जाने पर भगवान राम व्याकुल होकर रोने लगे। उसके बाद रोग दूर करने की जो चिकित्सा-पद्धति है – वैद्य, औषधि तथा उसके सारे क्रम का जो संकेत-सूत्र भगवान ने दिया वह बड़े महत्व का है। प्रश्न उठा कि वैद्य कहाँ से लाया जाय? राजनीति की दृष्टि से तो वैद्य बड़ा विश्वसनीय होना चाहिए। किसी ने कहा – स्वर्ग से वैद्य बुलाया जाय। भगवान राम ने कहा – नहीं, स्वर्ग से नहीं, लंका से सुषेण वैद्य को बुलाया जाय। सुनने में तो बात बड़ी अटपटी लगती है; स्वर्ग का वैद्य अधिक उपयुक्त होगा कि लका का? भगवान राम ने दो बातें कहीं। एक तो यह कि वैद्य का काम है दोष देखना; और दोष देखना जितना बढ़िया लंका का वैद्य जानता है, उतना स्वर्ग का नहीं। मित्र क्या दोष देखेंगे? जिनमें मित्रता का भाव हो, उनसे क्या अपने दोष पूछना चाहिए?

इसका अभिप्राय है कि सजग साधक अपने दोष अपने विरोधी से भी सुनने के लिए व्यग्र रहता है, इसलिए भगवान राम ने कहा कि लंका का वैद्य भले ही हमारे शत्रु पक्ष का है, परन्तु दोष-दर्शन के सन्दर्भ में तो वही सर्वश्रेष्ठ है। दूसरी बात यह कि सुषेण वैद्य ने लंका में आज तक किसी राक्षस को स्वस्थ नहीं किया। क्यों नहीं किया? बोले – लंका के रोगियों की दो बड़ी समस्याएँ हैं। एक तो वे स्वयं को कभी रोगी मानते ही नहीं और दूसरी यह कि वे कभी किसी पर विश्वास नहीं करते। रावण जैसे व्यक्ति की समस्या यही है कि अगर कोई वैद्य नाड़ी देखकर बता दे कि आपका वात, पित्त और कफ विकृत हो गया है, तो वह तुरन्त कहेगा कि तुम्हारा मस्तिष्क विकृत हो गया है और तुम्हारा इलाज हम अभी किये देते हैं। इसलिए लका के इस बेचारे वैद्य ने आज-तक न तो किसी का निदान किया न चिकित्सा ही की। युद्ध में लक्ष्मण के स्थान पर अगर मेघनाद मूर्छित हो जाता और सुषेण कह देते कि सूर्योदय से पहले कैलाश पर्वत से दवा मँगाइए, नहीं तो सूर्योदय होते ही मेघनाद की मृत्यु हो जाएगी; तब कल्पना कीजिये कि रावण ने क्या किया होता! अपने

स्वभाव के अनुसार पहले तो वह सुषेण को काल की तरह देखकर कहता कि तुमने दवा पहले से मँगाकर क्यों नहीं रखा, मूर्छित होने के बाद कह रहा है। तू किसी काम वैद्य नहीं है, प्राण बचाना है तो यहाँ से भाग जा। इसका अभिप्राय यह है कि गुरु के द्वारा बताई गई साधना-पद्धति में या गुरु में ही दोष दिखाई देने लगे, वैद्य में ही दोष दिखाई देने लगे, तो उस व्यक्ति के आत्मकल्याण के लिए कोई मार्ग नहीं है। इसी ओर संकेत करते हुए काकभुशुंडि जी ने कहा –

जो सठ गुरु सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं। ७/१०७/५

गुरु के प्रति श्रद्धा हो, गुरु के प्रति दोषदृष्टि न हो, ईर्ष्या न हो, गुरु हमारे दोषों को देखें और उसे दूर करने का उपाय बताएँ – इसी में हमारा कल्याण है। □(क्रमश:)□

अहिंसा और बल

मैं उन सभी से असहमत हूँ, जो अपने ही अन्धविश्वासों को हमारी जनता के ऊपर लाद रहे हैं। जिस प्रकार मिस्र के पुरातत्त्ववेत्ता की मिस्र देश के विषय में रुचि रहती है, उसी प्रकार भारत के सम्बन्ध में भी नितान्त स्वार्थपूर्ण रुचि रखना सरल है। कोई भी अपनी पुस्तकों का, अपने अध्ययन का या अपने सपनों का भारत पुन: देखने की आकांक्षा रख सकता है। परन्तु मेरी आकांक्षा, इस युग के सबल पक्षों द्वारा परिपुष्ट उस भारत के सबल पक्षों को केवल एक स्वाभाविक रूप में देखने की है। नये उत्थान को भीतर से ही विकसित होना चाहिए।

इसीलिए मैं केवल उपनिषदों की शिक्षा देता हूँ। तुम देख सकते हो कि मैंने उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य कहीं से उद्धरण कभी नहीं दिये; उपनिषदों से भी केवल 'बल' का आदर्श। वेद और वेदान्त का समस्त सार और बाकी सभी कुछ इस एक ही शब्द में निहित है। बुद्ध ने अप्रतिरोध तथा अहिंसा की शिक्षा दी, परन्तु मेरे ख्याल से मैं उसी बात को और भी अच्छे ढंग से प्रस्तुत कर रहा हूँ। कारण यह है कि अहिंसा के पीछे एक भयंकर दुर्बलता है। दुर्बलता से ही प्रतिरोध के विचार का जन्म होता है। मैं सागर की बौछार के एक बूँद को भी न तो दण्ड देने की बात सोचता हूँ और न उससे पलायन करने की। यह मेरे लिए कुछ भी नहीं है। परन्तु एक मच्छर के लिए वह बूँद एक गम्भीर विषय होगा। अब मैं समस्त हिंसा को उसी प्रकार का बना दूँगा - बल और अभय। मेरे आदर्श तो वे सन्त हैं, जो विद्रोह के समय मारे गये और जब उनके सीने में छूरा भोंका गया, तब केवल यही कहने को उन्होंने अपना मुख खोला, "और तू भी तो 'वही' है।"

– स्वामी विवेकानन्द

शंकराचार्य-चरित (४)

स्वामी प्रेमेशानन्द

(लगभग बारह शताब्दियों पूर्व जब बौद्धधर्म की अवनति होने लगी थी और भारतवर्ष विभिन्न प्रकार के अनाचारों से परिपूर्ण हो गया, तभी श्रीमत् शकराचार्य ने आविर्भूत होकर सनातन वैदिक धर्म में नव-प्राणों का संचार किया। इस नवजागरण के फलस्वरूप ही हिन्दूधर्म पुन: सबल होकर भावी आक्रमणों को झेलने में सक्षम हो सका। आज जो सनातन हिन्दूधर्म जीवित है तथा फल-फूल रहा है, इसका बहुत-कुछ श्रेय उन्हीं को जाता है। जो लोग समयाभाव या किसी अन्य कारण से श्री शंकराचार्य की विस्तृत जीवनी पढ़ने में अक्षम हैं, उनके लिए रामकृष्ण सघ के वरिष्ठ सन्यासी स्वामी प्रेमेशानन्द ने बँगला में एक संक्षिप्त जीवनी लिखी थी, जिसका धारावाहिक अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में क्रमश:प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

अध्याय पाँचवाँ

दिग्विजय

मण्डन के समान महापण्डित एक बालक संन्यासी से पराजित हो गये हैं और यही नहीं बल्कि उनका शिष्यत्व ग्रहण कर संन्यासी वेष में उनके साथ चले गये हैं – यह समाचार केवल माहिष्मती नगरी तक ही सीमित नहीं रहा। शंकर भी एक नगर से दूसरे नगर में जाकर ब्रह्मविद्या का प्रचार करने लगे। उनके किसी नगर में पहुँचने के पूर्व ही वहाँ के निवासी उनके बारे में अनेक प्रकार की झूठी-सच्ची बातें सुनकर उन्हें देखने को उत्सुक रहा करते थे। इतनी अल्प आयु में ही ऐसा शास्त्रज्ञान, वाग्मिता, तर्कक्षमता और सर्वोपरि उनके व्यक्तित्व का माधुर्य लोगों को आशा से भी अधिक मोह लेता। उनकी शिष्य-संख्या क्रमश: बढ़ती गयी। लोग उनसे इतना आकृष्ट होते कि वे जहाँ कहीं भी जाते, सैकड़ों लोग उनके साथ साथ चलते। जहाँ कहीं भी वे पहुँचते वहाँ मानो आनन्द का मेला लग जाता। विभिन्न मतों के अनुयायी जब उनसे तर्क-वितर्क करने के पश्चात अद्वैत मत अपनाते, तब लोगों के प्राण में एक अपूर्व शान्ति का बोध होता। शंकर को वे प्राणों के देवता मानकर उनके चरणों में आत्मसमर्पण करते।

आचार्य शंकर प्रचार करते – "सभी प्रकार के दु:ख-तापों से चिर काल के लिए मुक्ति पाना ही धर्म का उद्देश्य है। अबाध ज्ञान और पूर्णशान्ति-स्वरूप ब्रह्म के साथ एकत्व की अनुभूति हुए बिना दु:ख-ताप दूर नहीं हो सकते। शास्त्रों में भिन्न भिन्न अधिकारी के लिए याग-यज्ञ, पूजा, उपासना, योग-साधना आदि जिन विभिन्न धार्मिक कर्मों का निर्देश मिलता है, उन सबका उद्देश्य उसी पूर्ण शान्तिमय अवस्था की उपलब्धि है। यदि साधना के द्वारा कोई किसी देवता का दर्शन पा ले, तो केवल इतने से ही मन की कामनाएँ दूर नहीं हो जातीं। वैष्णव आदि साधक भी यदि ऋषि-प्रणाली से इष्टचिन्तन करें, तो अन्त में उन्हें ज्ञान तथा मुक्ति की प्राप्ति होगी।"

विविध सम्प्रदायों के अनेक लोग आचार्य के उपदेश सुनकर अपना भ्रम समझ गये। तब उन्होंने कृपादृष्टि अथवा स्पर्श द्वारा उन लोगों को अद्वैत-तत्त्व का बोध करने की शक्ति प्रदान की। इससे किसी किसी को उनके मत की यथार्थता समझ में आ गयी। जिनके चित्त शुद्ध थे, वे शक्ति पाते ही समाधिस्थ होकर अद्वैततत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगे, फिर अन्य कोई कोई अपने इष्टदेवता का साक्षात दर्शन पाकर कृतार्थ हुए। धर्मव्याख्या और विचार के द्वारा उन्होंने भ्रान्त मतों व आचारों को दूर किया और आध्यात्मिक शक्ति का वितरण करके लोगों के मन में सुप्त धर्मभाव को जगाने लगे।

उग्रभैरव

धर्मप्रचारार्थ आचार्यदेव श्रीशैल गये और वहाँ भी बहुत से लोगों ने उनका मत ग्रहण किया। यहाँ तक कि उग्रभैरव नामक कापालिक भी अपना मठ छोड़कर उनका शिष्य हो गया। इस कापालिक सम्प्रदाय के लोग बड़े भयानक होते थे और उन दिनों देश में उनका प्रभाव भी खूब था। कारण यह था कि इन लोगों में किसी का भी अनिष्ट करने की क्षमतायुक्त तरह तरह की सिद्धियाँ होती थीं तथा उनके दलों में लोगों की संख्या भी कुछ कम न थी। मनुष्य की खोपड़ी में ही उनका आहार, मद्यपान आदि सब होता था। संन्यासी के कमण्डलु के समान ही ये लोग भी सर्वदा अपने साथ एक नर-कपाल रखते थे, इसीलिए लोग इन्हें कापालिक कहते थे।

कापालिक ने सेवा-सुश्रूषा के द्वारा आचार्यदेव का विश्वास अर्जित कर लिया और उनके साथ ही रहने लगा। एक दिन उन्हें एकाकी पाकर वह बोला, "अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति के लिए मैंने बहुत दिनों तक भैरव की आराधना की थी, परन्तु किसी योगी अथवा राजा की बलि न दे पाने के कारण मैं भैरव को प्रसन्न नहीं कर सका। उस सिद्धि की प्राप्ति के लिए मेरा मन सतत व्याकुल रहता है। मैं मानता हूँ कि ब्रह्मज्ञान से पूर्णशान्ति मिलती है, परन्तु मैं किसी भी प्रकार उस सिद्धि की बात को भूला नहीं पा रहा हूँ। आप महायोगी हैं, ब्रह्मज्ञान के द्वारा पूर्णकाम हो गये हैं, इस जगत में अब आपके लिए कुछ प्राप्य नहीं है। यदि शिष्य के कल्याणार्थ आप अपना यह निष्पाप शरीर बलि में प्रदान करें, तो मेरा बड़ा उपकार होगा। दधीचि इन्द्र के स्वर्गराज्य की प्राप्ति के लिए अपनी देह देकर अक्षयकीर्ति छोड़ गये हैं। शिष्य की महाशक्ति की उपलब्धि के लिए अपना पवित्र शरीर दान करने से आपको भी वैसा ही अक्षय यश प्राप्त होगा।"

आचार्य शंकर में स्वार्थबोध बिल्कुल भी नहीं था। वे भगवान के यंत्र रूप में कार्य किये जा रहे थे। उनका मन सर्वदा ब्रह्मभाव में तन्मय रहता था। किसी सांसारिक विषय पर चिन्तन आदि न करने के कारण उनका स्वभाव बालक के समान हो गया था; पूर्णज्ञानी परमहंसों का ऐसा ही स्वभाव होता है। ये लोग मनुष्यों के कुटिल छल-प्रपंच समझ नहीं पाते और सभी बातों को सत्य मानकर विश्वास कर लेते हैं। भगवान की प्रेरणा से शंकर का शरीर-मन धर्मप्रचार के कार्य में लगा रहता था, परन्तु इसमें उनका कोई अपना कर्तव्यबोध या संकल्प नहीं था। कापालिक के प्रस्ताव में उन्हें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं लगा। परन्तु उन्हें लगा कि शिष्यगण शायद इस प्रस्ताव पर सहमत न हों, अतः दोनों ने आपस में

सलाह करके निश्चित किया कि निकट के ही घने जंगल में भैरव-पूजा का आयोजन किया जाय, फिर निर्दिष्ट समय पर संकेत पाकर वे गोपनीयतापूर्वक वहाँ पहुँच जायेंगे और शिष्य की अभिलाषा पूर्ण करेंगे।

परवर्ती अमावस्या की रात को कापालिक ने एक वन में भैरव-पूजा आयोजित की। आधी रात को जब सभी शिष्य अपने अपने आसन पर जाकर निद्रामग्न हो गये, तब कापालिक का संकेत पाकर शंकर धीरे से उठे और पूजा के स्थान पर जा पहुँचे। कापालिक परम आनन्द के साथ भैरव की पूजा तथा बलि-सम्बन्धी क्रियाओं में जुट गया। शंकर की दृष्टि में यह जगत तुच्छ था, शरीर एक भ्रम मात्र था, समाधि के आनन्द-सागर में मन के लीन हो जाने पर उन्हें देह की स्मृति तक नहीं रह जाती थी। वे कापालिक को यथाशीघ्र अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेने का आदेश देकर योगासन में बैठ गये।

उधर पद्मपाद भी गुरु के पास ही अपने आसन पर निद्रामग्न थे। स्वप्न में उन्होंने देखा कि एक कापालिक गुरुदेव की हत्या कर रहा है। तत्काल उनकी निद्राभंग हो गयी और गुरुदेव को उनके आसन पर न देखकर उन्होंने अधीरता के साथ गुरुभाइयों को जगाया। सभी उनकी खोज में इधर-उधर दौड़ पड़े, परन्तु गुरुदेव उन्हें कहीं दिखाई नहीं दिये। पद्मपाद द्वारा अत्यन्त व्याकुल होकर स्मरण किये जाने पर भगवान नृसिंहदेव उनके शरीर में आविर्भूत हुए। पद्मपाद के अंग-प्रत्यंग भयंकर हो उठे और वे गर्जन करते हुए कापालिक के पूजास्थान की ओर दौड़ने लगे। शिष्यगण भी किसी अज्ञात आपदा की आशंका से उनके पीछे हो लिये। पद्मपाद सबको पीछे छोड़ अविलम्ब पूजा-स्थल पर जा पहुँचे। उस समय कापालिक हाथ में सिन्दूर-मण्डित खड्ग लिये शंकर का मस्तक काटने ही वाला था। पद्मपाद की भीषण मूर्ति देखकर उसने सिहरकर तलवार उठायी। परन्तु पलक झपकते ही पद्मपाद ने लपककर उसके हाथ से तलवार छीनकर उसी का सिर काट डाला और भीषण गर्जना से पूरे वन-प्रान्तर को गुँजारित करने लगे। पीछे पीछे दौड़कर आते हुए शिष्यों में से कोई तो यह दृश्य देखकर भय से अचेत हो गया, कोई काँपने लगा और कोई स्तम्भित होकर खड़ा रहा। इस हलचल के फलस्वरूप शंकर की समाधि भंग हो गयी। वे पद्मपाद के शरीर में नृसिंहदेव का आविर्भाव देखकर उनकी स्तुति करने लगे। नृसिंह भगवान के प्रसन्न होकर तिरोहित हो जाने के पश्चात पद्मपाद का शरीर काफी समय तक मूर्छित पड़ा रहा। गुरुभाइयों की सेवा-सुश्रूषा से उनकी बेहोशी टूटी। दयामय आचार्यदेव कापालिक का वध हुआ देख व्यथित होकर पद्मपाद पर नाराजगी व्यक्त करने लगे। परन्तु पद्मपाद इससे बिन्दुमात्र भी विचलित हुए बिना बोले, "गुरुहत्या को उद्यत व्यक्ति का वध करके मैं सैकड़ों बार नरक जाने को तैयार हूँ। आपके शरीर से जगत के हजारों लोगों का परम कल्याण होना सम्भव है। इस देहरक्षा के निमित्त मेरे समान एक व्यक्ति का नरकभोग करना तो साधारण बात है।" पद्मपाद की गुरुभक्ति तथा दैवीशक्ति देखकर सबके चित्त में उनके प्रति असीम श्रद्धा का उदय हुआ। आज इस संकट से उद्धार पाकर सभी परम आनन्दित थे। जो लोग पहले पद्मपाद के प्रति ईर्ष्या का भाव रखते थे, आज की घटना देख वे सभी लज्जित हुए।

हस्तामलक

श्रीवेली नामक स्थान में अनेक निष्ठावान ब्राह्मण निवास करते थे। वे लोग सर्वदा यागयज्ञ तथा वेदादि शास्त्रो के अध्ययन में लगे रहते थे। प्रभाकर नामक एक धर्मपरायण ब्राह्मण भी उनमे एक थे। धन-धान्य का उन्हें अभाव न था, परन्तु अपने इकलौते पुत्र के मूक व बधिर होने के कारण वे बड़े दुखपूर्वक दिन बिताते थे। उनका पुत्र उस समय तेरह वर्ष का था। वह देखने में बड़ा सुन्दर था, उसका मुखमण्डल ज्योतिर्मय था, परन्तु उसमें बुद्धि का कोई आभास नहीं दिखता था। पता ही नहीं चलता था कि उसे भूख-प्यास, लज्जा-घृणा, ईर्ष्या-द्वेष और यहाँ तक कि सर्दी-गर्मी का भी बोध होता है या नहीं। भोजन देने पर कभी वह खाता, तो कभी निराहार ही रह जाता। समवयस्क लड़के उस पर कितना ही अत्याचार करते, पर वह कोई प्रतिकार नहीं करता। मुख से सदा प्रसन्न लगता, देखने में बुद्धू जैसा भी नहीं लगता। ब्राह्मण ने सोचा कि सम्भव है इस पर किसी भूत-प्रेत का आवेश हो। अत: उन्होंने बहुत सा मंत्र-तंत्र, होम-हवन तथा झाड़-फूँक कराया, पर बालक के स्वभाव में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हुआ। धर्मप्रचार करते हुए जब शंकर वहाँ पहुँचे, तो प्रभाकर भी अपने पुत्र के साथ उनका दर्शन करने आये। उन्होंने पुत्र से आचार्य-देव के चरणों में प्रणाम करने को कहा। प्रणाम के पश्चात बालक भूमि पर ही पड़ा रहा, और तब शंकर ने स्वयं अपना हाथ बढ़ाकर उसे उठाया। ब्राह्मण अपने पुत्र का स्वभाव बताते हुए उनसे ठीक कर देने का अनुरोध करने लगे। शंकर ने बालक से पूछा, "तुम कौन हो और क्यों ऐसी अवस्था में पड़े हो?" आश्चर्य की बात तो यह कि बालक ने अपने मधुर कण्ठ से संस्कृत भाषा के ललित श्लोकों में ऐसा आत्म-परिचय दिया कि सबने उसे ब्रह्मज्ञानी समझ लिया। शंकर ने ब्राह्मण से कहा, "यह बालक अपने पूर्व संस्कारों की बदौलत विद्वान और ब्रह्मज्ञानी है। नहीं तो जिसने कभी अध्ययन ही नहीं किया, वह आज भला कैसे इन अपूर्व श्लोकों की आवृत्ति कर पाता? इसे संसार में आसक्ति नहीं, देह में ममत्व का बोध नहीं, इसे रखकर तुम क्या करोगे? यह लड़का तुम मुझे दे दो।" ब्राह्मण ने सोचा कि बात तो ठीक है। मेरे पास रहकर न तो लड़का ही सुखी है और न मैं ही इसके चलते सुखी हूँ। इन महात्मा के पास लड़का अच्छा ही रहेगा। यह सोचकर उन्होंने अपना पुत्र शंकर को सौंप दिया। हाथ पर रखे आँवले के समान उसे ब्रह्म की उपलब्धि हुई थी, इस कारण शंकर ने उसे 'हस्तामलक' का नाम दिया।

एक दिन शिष्यों के साथ विविध विषयों पर चर्चा के दौरान आचार्यदेव ने हस्तामलक का पूर्व-वृत्तान्त बताते हुए कहा था – एक बार प्रभाकर की पत्नी अपने दो वर्ष के इस बच्चे को साथ लिए यमुना में स्नान करने गयी थीं। यमुना के तट पर एक योगी निवास करते थे। ब्राह्मणी उन्ही के पास अपने बच्चे को बैठाकर नदी में स्नान करने चली गयीं। थोड़ी देर बाद योगी के अन्यमनस्क हो जाने पर बालक खेलते खेलते नदी में गिर पड़ा। उसे तत्काल निकाला गया, परन्तु उसके प्राण बचे नहीं। ब्राह्मणी बड़े ही आर्त स्वर में रोने लगीं। योगी की असावधानी के कारण ही तो ब्राह्मणी पुत्रहीन हो गयी थी, अत: योगबल से देह त्यागकर वे स्वयं ही उस दो वर्ष के शिशु के शरीर में प्रविष्ट हो गये। ब्राह्मणी पुत्र को लेकर घर लौट गयीं, परन्तु इस घटना का किसी के सामने उल्लेख नहीं किया। योगी भी संसार-बन्धन से बचने के लिए बहिर्जगत के प्रति पूर्ण उदासीनता दिखाते रहे।

शृंगेरी मठ

कर्नाटक राज्य में तुंगभद्रा नदी के तट पर शृंगगिरि नामक एक पवित्र स्थान है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही वहाँ ऋष्यशृंग मुनि का आश्रम था। उस स्थान को साधना के अनुकूल समझकर शंकर ने वहाँ एक मठ की स्थापना की। शंकर की प्रार्थना पर देवी सरस्वती चिरकाल के लिए 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' उस मठ में प्रतिष्ठित रहने को राजी हुईं। तब तक आचार्यदेव की शिष्य संख्या काफी बढ़ चुकी थी। उन्हें शास्त्रपाठ तथा साधना के द्वारा आदर्श के अनुरूप जीवन बिताने में समर्थ करने के लिए उन लोगों को साथ लेकर वे कुछ समय तक उसी मठ में निवास करने लगे।

तोटकाचार्य

एक दिन गिरि नामक एक शान्त-शिष्ट ब्राह्मण ने आकर आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया। आते ही उन्होंने गुरुसेवा का पूरा भार अपने कन्धों पर ले लिया, ताकि अन्य गुरुभाइयों को साधन-भजन तथा अध्ययन का अवसर मिले। गिरि सर्वदा ही गुरु के लिए आवश्यक वस्तुओं के संग्रह, स्नान के समय उनके वस्त्र ले जाने और उतारे गये वस्त्रों को धोने तथा सुखाने आदि कार्यों में लगे रहते थे। वे बातें नहीं करते, परन्तु छाया के समान गुरुदेव के साथ साथ रहते, मानो गुरुसेवा के लिए ही उन्होंने जीवन-धारण किया हो। शास्त्रों के प्रति उनमें कुछ विशेष रुझान नहीं दीख पड़ता था।

शंकर के शिष्यगण उन दिनों जी-जान से शास्त्र-अध्ययन तथा साधना में लगे हुए थे। मठ में ज्ञानचर्चा तथा ध्यान-धारणा का मानो एक प्रबल स्रोत बह रहा था। परन्तु गिरि इन सबसे उदासीन, गुरु की सेवा में ही निरत रहते। अतः विद्याभिमानी गुरुभ्रातागण उन्हें थोड़ी अवज्ञा की दृष्टि से देखा करते थे। उन लोगों का मनोभाव कुछ ऐसा था, "गिरि तो मूर्ख है; परिश्रमपूर्वक गुरु की थोड़ी-बहुत सेवा के अतिरिक्त उसके लिए करने को है भी क्या?"

एक दिन शिष्यों के वेदान्त-पाठ के लिए प्रस्तुत होने पर शंकर ने कहा, "तुम लोग थोड़ी प्रतीक्षा करो। गिरि नदी पर कपड़े धोने गया है, उसके आने पर पाठ आरम्भ होगा।" शिष्यों में से कोई तो इस बात पर नाराज हुए और किसी किसी ने मुँह खोलकर गिरि के बारे में कुछ अवज्ञासूचक टिप्पणियाँ भी कर दी। गुरुभक्ति तथा गुरुसेवा – ज्ञानप्राप्ति का एक प्रधान साधन है; परन्तु आचार्य को यह देखकर खेद हुआ कि ये लोग वेद-वेदांग में पारंगत तपस्वी होकर भी अहंकार में ऐसे मत्त हैं कि गुरुसेवा की ही अवज्ञा कर रहे हैं। वे बिना कुछ कहे स्थिर बैठे रहे और मन-ही-मन उन्होंने गिरि को ब्रह्मविद्या प्रदान कर दी। गिरि नदी से कपड़े धोकर लौट रहे थे। सहसा उन्हें अनुभव हुआ मानो उनकी अनुभव-शक्ति से एक आवरण उतर गया हो और उन्हें सम्पूर्ण जगत चैतन्यमय बोध होने लगा। गुरुकृपा से क्षण भर में ही उन्हें सर्व शास्त्रों का सार विदित हो गया और समस्त साधनाओं के फल की उपलब्धि हो गयी। उनका मुखमण्डल ब्रह्मतेज से उद्भासित हो उठा। वे आचार्य के समीप पहुँचे और मन-ही-मन वेदान्त के सारमर्म-अभिबोधक कुछ श्लोकों की तोटक छन्द में रचना कर उनकी आवृत्ति करने लगे। गुरुभ्राता अवाक रह गये। उन लोगों का अहंकार चूर्ण हो गया। तब से गुरुसेवा-परायण गिरि का नाम तोटकाचार्य हुआ।

अन्तरंगों से मिलन

अब उनकी लीला के सहायक सभी अन्तरंग शिष्य उनके पास आ जुटे थे। पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक, तोटकाचार्य, समित्पाणि, चिद्विलास, ज्ञानकन्द, विष्णुगुप्त, शुद्धकीर्ति, भानुमरीचि, कृष्णदर्शन, बुद्धिविरिंचि, पादशुद्धान्त, आनन्दगिरि आदि ज्ञानी, भक्त, पण्डित, सुलेखक, वाग्मी गुरुगतप्राण शिष्यगण अग्निमंत्र में दीक्षित होकर गुरुकार्य के साधन में अपना जीवन न्योछावर कर चुके थे। उन लोगों ने साधना के द्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति की और सर्व शास्त्रों में पारंगत होकर अद्वैत-मत-पोषक अनेक ग्रन्थ लिखे।

प्रतिज्ञा-पालन

आचार्यदेव ने गृहत्याग करते समय अपनी माता के समक्ष तीन प्रतिज्ञाएँ की थीं। अब उन्हीं को पूरा करने का समय आ गया था। एक दिन अपने मुख में मातृदुग्ध का स्वाद पाकर वे समझ गये कि माँ उनका स्मरण कर रही हैं। शिष्यों को मठ में छोड़ वे योगबल के द्वारा आकाश-मार्ग से माँ के पास जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने पाया कि माँ का मृत्युकाल आसन्न है। काफी काल बाद पुत्र के मुख का अवलोकन कर उनकी माता अतीव आनन्दित हुईं। साक्षात भगवती-ज्ञान से आचार्यदेव माँ की सेवा में लग गये। माँ का सारा खेद मिट गया। कुछ दिनों बाद अन्तिम क्षण आ पहुँचने पर शंकर ने अपने इष्टदेव विष्णु का स्मरण किया। शंकर की प्रार्थना पर भगवान विष्णु ने प्रकट होकर दर्शन दिया। विशिष्टा देवी उस मूर्ति का दर्शन करते हुए वैकुण्ठलोक पधारीं।

शंकर ने जब अपने सम्बन्धियों को माँ के अन्तिम संस्कार में सहायता देने का अनुरोध किया, तो सहायता देना तो दूर, वे लोग शंकर को अनेक कटु वचन सुनाते हुए उनकी माता की निन्दा करने लगे। उन लोगों को भय था कि कम आयु में नासमझी के कारण ये संन्यासी हो गये थे, परन्तु अब गृहस्थ होकर उन लोगों द्वारा भोगे जा रहे अपने पैतृक धन-सम्पदा को वापस माँगेंगे। शंकर अपने सम्बन्धियों का आचरण देखकर व्यथित हुए और उनके मुख से माँ की निन्दा सुनकर नाराज भी हुए। उन्होंने अकेले घर के प्रांगण में ही माँ के मृतदेह का संस्कार किया और सम्बन्धियों को दण्डित करने हेतु ये तीन शाप दिये –

(१) वे अपने घर के प्रांगण में ही मृतकों का संस्कार करेंगे।

(२) कोई भी संन्यासी उनका अन्न ग्रहण नहीं करेगा।

(३) वे लोग वेदपाठ नहीं कर सकेंगे।

अभिशाप की बात सुनकर उन लोगों को होश आया और वे भयभीत होकर शंकर के चरणों में गिरकर शाप-मुक्ति के लिए अनुनय-विनय करने लगे। दयामय आचार्यदेव ने उन्हें वेदपाठ का अधिकार देकर तीसरे शाप का मोचन कर दिया। कालड़ी ग्राम के ब्राह्मण अब भी बाकी दो शापों को मानकर जीवन-यापन करते हैं।

अब शंकर केरल प्रान्त में भ्रमण करते हुए वहाँ की सामाजिक उन्नति के लिए विविध प्रकार के सदाचारों का प्रवर्तन करने लगे। गुरुगत प्राण शिष्यगण भी उनसे मिले और उनके कार्य में सहयोग देने लगे।

□ (क्रमशः) □

सद्गुण तथा ज्ञान

स्वामी सत्यरूपानन्द

यदि हम ससार पर एक विहगम दृष्टि भी डालें तो हमें यह स्पष्ट दीख पड़ेगा कि संसार में कुछ लोग बलवान हैं तो कुछ लोग निर्बल, कुछ सम्पन्न हैं तो कुछ दरिद्र और अभावग्रस्त। कुछ स्वस्थ हैं और कुछ रुग्ण और अस्वस्थ। कुछ लोग सुखी हैं तो कुछ लोग दुखी, कुछ लोग आनन्दमग्न हैं तो कुछ लोग विषाद में डूबे हुए हैं।

ऐसा क्यों है? यदि हम इन बातों पर विचार करें तथा इनका विश्लेषण करें तो हम पाएँगे कि संसार में जो लोग सुखी हैं, सम्पन्न हैं, बलवान तथा निरोगी हैं उन सभी में सद्गुणों की बहुतायत होती है अथवा अज्ञान आवरण झीना हो चुका होता है।

वे सभी लोग किसी-न-किसी विषय में सिद्धहस्त तथा दक्ष होते हैं। वे लोग अपने सभी कार्य निपुणतापूर्वक करते हैं। दूसरे शब्दों में उनमें ऐसे सद्गुण हैं जिसने उन्हें उन व्यक्तियों की तुलना में अधिक सुखी और सम्पन्न बनाया है, जिनमें वे गुण नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुणवान तथा ज्ञानी व्यक्ति ही संसार में सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त करते हैं। आनन्दमय जीवन का रहस्य ही है सद्गुण तथा ज्ञानसम्पन्न होना। सद्गुणी तथा ज्ञानी व्यक्ति ही भाग्यवान होता है। समाज में प्रायः यह देखा जाता है कि अभागे दीन-हीन व्यक्तियों में प्रायः सद्गुण तथा ज्ञान का अभाव रहता है। इसीलिए वह दुखी और अभागा रह जाता है।

एक ही परिवार में सगे भाई-बहनों में भी ऐसे उदाहरण देखने को मिल जाते हैं जहाँ एक भाई या बहन सुखी तथा सम्पन्न है और दूसरा अकर्मण्य, दुखी और विपन्न है।

इसके मूल में भी वही कारण है। एक व्यक्ति में सद्गुण और ज्ञान विद्यमान है तथा दूसरे में इनका अभाव। बिना गुण और ज्ञान के व्यक्ति में सामर्थ्य उत्पन्न नहीं हो सकता और हम सभी यह जानते हैं कि सामर्थ्य के बिना संसार में कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता, असफल कार्य सदैव दुख और अभाव का ही कारण होता है।

ज्ञान जब जीवन के व्यवहार में उतरता है तभी उससे सामर्थ्य उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति को भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र का प्रचुर ज्ञान हो किन्तु यदि वह व्यक्ति उस ज्ञान को व्यावहारिक रूप न दे सके, उसे व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी न बना सके तो उसके ज्ञान से सामर्थ्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः जीवन में ऐसा अर्जित करना चाहिए जो व्यावहारिक जीवन को उपयोगी एवं उन्नत कर सके तथा व्यक्ति के जीवन को बहुजन हिताय बहुजन सुखाय के प्रति समर्पित करे।

किन्तु ऐसा न होकर हमारी अर्जित विद्या एवं व्यावहारिक ज्ञान केवल हमारे निजी स्वार्थ की पूर्ति में ही लगा रहे, हम दूसरों के हित और सुख की ओर ध्यान न दें तो हमारा ज्ञान एवं तज्जनित सामर्थ्य अन्त में हमारे दुखों का ही कारण होगा।

अतः ज्ञानार्जन के प्रारम्भ से ही यह लक्ष्य सदैव अपने मनश्चक्षु के सामने रखना चाहिए कि हमारे ज्ञानार्जन तथा सामर्थ्य प्राप्ति का लक्ष्य निज-स्वार्थ पूर्ति एवं भोग प्राप्ति नहीं है। उसका लक्ष्य तो बहुजन हिताय बहुजन सुखाय ही है। यह इसलिए कि नैतिक तथा आध्यात्मिक जगत का यह एक अटल नियम है कि व्यक्ति दूसरों को सुखी करने के प्रयत्न द्वारा स्वय सुखी हो सकता है। दूसरों का दुख दूर करके ही व्यक्ति स्वयं दुखों से मुक्त हो सकता है। एक और विशेष बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है और वह यह कि केवल अर्थकरी विद्या, केवल रोजी-रोटी कमानेवाली विद्या जीवन को सफल और पूर्ण नहीं बना सकती।

भौतिक पक्ष से भिन्न मनुष्य के व्यक्तित्व का एक नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष भी है और जब तक इस पक्ष के पोषण तथा पुष्टि की भी व्यवस्था नहीं होती, मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता और हम सभी यह जानते हैं कि अर्ध-विकसित व्यक्तित्व मनुष्य को शान्ति और सुख प्रदान नहीं कर सकता।

अतः जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए जीवन को पूर्ण और सफल बनाने के लिए, अर्थकरी विद्या के साथ साथ नैतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान भी प्राप्त करना परम आवश्यक है। इस ज्ञान के साथ साथ जीवन में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का आचरण परम आवश्यक है। नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान तभी फलीभूत होता है जबकि वह व्यावहारिक जीवन में आचरण में आता है। अन्यथा नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान के सिद्धान्तों का केवल बौद्धिक ज्ञान जीवन में विशेष उपयोगी नहीं होता।

उपनिषद् में इसे परा और अपरा विद्या कहा गया है। परा विद्या को आध्यात्मिक ज्ञान तथा अपरा विद्या को भौतिक ज्ञान कहा जाता है। उपनिषद् इन दोनों विद्याओं के अर्जन का उपदेश देते हैं। इन दोनों विद्याओं के ज्ञान से ही जीवन सन्तुलित तथा सफल होता है।

जीवन में सफलता के लिए इन दोनों विद्याओं का साथ साथ अभ्यास करना आवश्यक होता है। किसी एक के मूल्य पर दूसरे की उपेक्षा या अवहेलना नहीं करनी चाहिए। इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए कि अर्थकरी विद्या के उपार्जन के प्रयत्न और मोह में आध्यात्मिक और नैतिक विद्या की ओर दुर्लक्ष्य न हो जाए। वह अधूरी न रह जाए।

इस बात का ध्यान रखकर दोनों विद्याओं का सन्तुलित तथा यथोचित अर्जन जीवन को सफल और सार्थक बनाता है। □

माँ के सान्निध्य में (४७)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं । – सं.)

२४ मार्च, १९२०

श्री माँ अपने गाँव जयरामबाटी गयी थीं । लगभग एक वर्ष बाद फाल्गुन (फरवरी-मार्च) मास में उनका कलकत्ते के अपने बागबाजार के मकान में शुभागमन हुआ । वे काफी बीमार थीं । काफी दिनों से उन्हें बीच बीच में मलेरिया का ज्वर आ जाता था । दर्शन करने जाकर मैंने पाया कि माँ कपड़े धोने गयी हैं । नलघर से बाहर आकर उन्होंने कहा, "बैठो, मैं आती हूँ" सबसे दक्षिण की ओर स्थित कमरे में माँ का बिस्तर लगा हुआ था । पाँच मिनट बाद ही वे कपड़े बदलकर वहाँ आकर खड़ी हो गयीं । श्रीचरणों में प्रणाम करते ही उन्होंने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और बोलीं, "बैठो, कैसी हो?" सेवा के लिए मैंने कुछ दिया । वे रुपये हाथ में ही लिए रही । माँ का स्वास्थ्य देखकर मेरे मुख से कोई बात नहीं निकल रही थी – केवल उनके मुख की ओर ही मैं देखे जा रही थी और सोच रही थी – कैसा शरीर था और कैसा हो गया है ! साथ में सुमति की नौकरानी भी गयी थी । उसके प्रणाम करने की तैयारी करते ही माँ ने उससे कहा, "तुम वहीं से करो ।" वह दरवाजे के नीचे प्रणाम करके चली गयी ।

माँ इतनी दुर्बल हो गयी थीं कि लगा – उन्हें बातें करने में भी कष्ट हो रहा है । मैं नीचे बैठी थी । इतने में रासबिहारी महाराज आकर माँ को अधिक बातें करने से मना कर गये । तो भी माँ बीच बीच में दो-चार बातें पूछने लगीं । मैं यथासम्भव संक्षेप में उत्तर देकर बैठी हुई थी, उसी समय शिशु को गोद में लिए राधू वहाँ आयी । उसका बच्चा बीमार था । मैंने बच्चे के हाथ में कुछ दिया । परन्तु राधू किसी भी हालत में उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं थी । माँ ने कहा, "यह क्या राधू, दीदी प्रेम से दे रही है और तू लेगी नहीं?" यह कहकर उन्होंने स्वयं ही उसे उठाकर रख दिया । बच्चा केवल अपनी माँ तथा नानी के कारण ही नहाने-खाने में अनियमितता के फलस्वरूप रोग भोग रहा था – यह कहते हुए उन्होंने अप्रसन्नता व्यक्त की । राधू कटु शब्दों में इसका प्रतिवाद करने लगी । "उसे बोलने से कोई लाभ नहीं" – कहकर माँ चुप हो गयीं । थोड़ी देर बाद सरला, कृष्णमयी दीदी आदि आ पहुँचीं । माँ लेटी लेटी ही उनके साथ बातें करने लगीं । सरला कृष्णमयी दीदी की नतिनी की बीमारी में उसकी सेवा करने गयी थीं – वही सब बातें होने लगी ।

३० मार्च, १९२०

पाँच-छह दिन बाद माँ के यहाँ गयी थी । उस समय संध्या आरती हो रही थी । माँ खाट के ऊपर लेटी हुई थीं । निकट जाकर खड़ी होते ही वे उठकर बैठ गयीं । प्रणाम करने के बाद उनका आदेश पाकर मैं भी बैठ गयी । कमरे में सरला, नलिनी तथा बहू हैं; बहू तथा

नलिनी जप कर रही हैं । मैं थोड़ी-सी मिठाइयाँ ले गयी थी । आरती समाप्त हो जाने के बाद माँ ने विलास महाराज से उसका भोग लगा देने को कहा । उन्होंने पूछा, "बाद में देने से नहीं होगा?" माँ ने कहा, "नहीं, अभी लगा दो ।" उन्होंने आदेश का पालन किया । वे सिद्धेश्वरी काली का दर्शन करने गये थे, प्रसाद भी लाये हैं । यही बताने के बाद उन्होंने थोड़ा-सा देवी का प्रसाद माँ को देने के बाद हम सबको भी थोड़ा थोड़ा दिया ।

माँ ने सरला, नलिनी आदि को पूर्वोक्त प्रसाद खाकर पानी पीने को कहा और मुझे भी देने को कहा । फिर कौन कैसा है पूछने के बाद वे बोलीं, "आज दो दिनों से बुखार नहीं आया, बेटी, थोड़ी अच्छी ही हूँ । और बेटी, राधू के कारण तो मेरा देह, धर्म, कर्म, अर्थ – जो कुछ था, सब गया । बच्चे को तो लगता है मार ही डालेगी । यहाँ आकर सरला के हाथ में देकर तभी बचा है । और उसे कांजीलाल देख रहे हैं । कांजीलाल ने तो कह ही दिया है, 'यह राधू के पास रहेगा तो मैं चिकित्सा नहीं कर सकूँगा ।' ठाकुर की न जाने क्या इच्छा है – जो अपने ही देह का यत्न करना नहीं जानती, उसे बच्चा ही क्यों दिया । अब तो उसे एक नया रोग भी हो गया है । यह क्या हुआ, बेटी? जो होना है हो, मैं तो अब इन लोगों को लेकर नहीं चल सकती । घर में क्या ही अत्याचार करती थी । मुझे क्या ये लोग मानती थी?"

तभी समाचार आया कि डॉक्टर कांजीलाल आये हैं । हम लोग बगल के कमरे में चली गयी । डॉक्टर बाबू माँ को देख रहे थे, तभी राधू ने आकर कहा, "जरा मेरा हाथ देखो तो । नीचे लोहे के खम्भ से लगकर फूल गया है, छिलकर कई जगह रक्त निकल आया है ।" बहू ने एक गन्दा कपड़ा रेड़ी के तेल में भिगोकर उसके ऊपर बाँध दिया था । डॉक्टर बाबू ने कहा, "जल्दी खोल डालो और साबुन ले धो लो । ऐसे कपड़े से भी कहीं बाँधा जाता है? अभी विषाक्त हो जायेगा । कलकत्ते की हवा के साथ विष चलता रहता है ।" इतना कहकर वे उठ गये । इस पर माँ खेद व्यक्त करने लगीं, "अहा, मेरी बच्ची को कितना लग गया है! मेरा हृदय फटा जाता है । अहा, वह जन्मदुखिनी है । उसके शरीर में क्या कुछ है! अहा, कांजीलाल को उसे थोड़ी दवा देने के लिए कहो । उसे ठीक कर दो, ठाकुर ।"

एक एक कर सभी मन्दिर से उठकर चले गये । थोड़ी देर बाद बहू ने आकर कहा, "अच्छी तरह धो दिया गया है ।"

बाद में माँ लेटकर बोलीं, "पाँव पर हाथ फेर दो, बेटी ।" उनके पाँवों पर हाथ फेरते हुए मैं बोली, "माँ, एक बात कहना चाहती हूँ, आपको कोई असुविधा तो नहीं होगी?"

माँ – नही, नहीं, कहो न क्या बात है?

मैंने कह दिया । ... सुनकर माँ बोलीं, "अहा, वह आनन्द क्या रोज रोज होता है, बेटी? सब सत्य है, सब सत्य है, कुछ भी मिथ्या नहीं है, बेटी – वे ही सब हैं । वे ही प्रकृति हैं, वे ही पुरुष हैं । ॐ (ठाकुर) से ही सब होगा ।"

मैं – माँ, किसी किसी दिन एकाग्र मन से जप करने के बाद देखती हूँ कि काफी समय निकल गया । और आपने बाकी जो कुछ करने को कहा है, वह सब हुआ नहीं । तब जल्दी जल्दी वह सब पूरा कर लेना पड़ता है, क्योंकि गृहस्थी की जिम्मेदारियाँ टालने से भी काम नहीं चलता । इससे क्या अपराध होता है, माँ?

माँ – नहीं, नहीं, इससे कोई अपराध नहीं होता ।

में – एक जन ने बताया कि किसी किसी दिन गम्भीर रात में ध्यान करते समय वह एक ध्वनि सुनती है, जो प्राय: शरीर के दाहिनी ओर से उठती है । कभी (मन थोड़ा उतर जाने पर) बाँयीं ओर से भी सुनती है ।

माँ – (थोड़ा सोचने के बाद) हाँ, दाहिनी ओर से ही होता है । बाँयी ओर देहभाव है । कुलकुण्डलिनी जाग्रत होने पर ये सब अनुभूतियाँ होती हैं – दाहिनी ओर से जो होता है, वही ठीक है । अन्त में मन ही गुरु हो जाता है । मन को स्थिर करके दो मिनट (भी उन्हें) पुकार पाना अच्छा है ।

'देहभाव' की बात जो थोड़ी-बहुत समझ में आयी, उससे अधिक कुछ विस्तार से पूछने की इच्छा नहीं हुई, क्योंकि माँ अस्वस्थ थीं ।

बहू ने आकर मच्छरदानी लगा देने की इच्छा व्यक्त की । मैं विदा लेने की सोच रही थी । माँ ने तकिये से सिर उठाकर कहा, "कर लो बेटी, मैं सिर उठाये हूँ ।" शयनावस्था में शायद प्रणाम नहीं किया जाता । प्रणाम करते ही उन्होंने कहा, "अच्छा बेटी, फिर आना । थोड़ा जल्दी आना । शायद कामकाज पूरे नहीं हो पाते? दुर्गा, दुर्गा, दुर्गा, जाओ बेटी, जाओ ।" बहू ने मच्छरदानी लगा दिया है, तो भी माँ ने अपना श्रीमुख निकाले रखकर मुझे विदाई दी । मकान के बाहर बरामदे में पहुँची तो भी सुनाई दे रहा था – माँ करुणामय स्वर में कह रही थीं – "दुर्गा, दुर्गा ।" कैसा असीम स्नेह है ! जितने भी समय उनके पास रहने को मिलता है, संसार का सारा शोक-ताप विस्मृत हो जाता है ।

माँ की अस्वस्थता बनी ही हुई है । शरीर क्रमश: बड़ा दुर्बल होता जा रहा है । उस दिन अपराह्न में गयी थी । माँ उठकर नलघर में जाना चाहती हैं; बोलीं, "अपना हाथ दो तो बेटी, पकड़कर उठूँ । प्राय: ही बुखार हो जाता है, शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया है ।" माँ बड़े कष्ट से उठीं । उठने के बाद वे बोलीं, "वह देखो बेटी, दरवाजे के पास कोई एक लाठी रख गया है । कई दिनों से सोच रही थी कि एक लाठी मिल जाय, तो उसका सहारा लेकर थोड़ा आना-जाना कर सकूँगी । सो देखो, ठाकुर ने ठीक जुटाकर रख दिया है ।" उन्होंने हाथ में उठाकर लाठी को दिखाया । फिर हँसते हँसते बोलीं, "मैंने पूछा था – कौन लाठी रख गया है जी? तो कोई बता नही सका !"

एक अन्य दिन जाकर मैंने सुना कि माँ का इतना कष्ट देखकर उनके साधु-सन्तान कह रहे है, "माँ, इस बार आपके ठीक हो जाने पर हम और किसी को दीक्षा नही लेने देंगे । इन सबके पापों का भोग लेकर ही आपको ये सारे कष्ट हो रहे हैं ।" माँ यह सुनकर हल्के से हँसी और कहने लगी, "क्यों जी? ठाकुर इस बार क्या केवल रसगुल्ले खाने के लिए ही आये थे?" सभी निरुत्तर रह गये । अहा माँ ! तुमने अपनी इस करुणापूर्ण उक्ति से कितनी सारी बातें व्यक्त कर दीं, परन्तु हम मूढ़ लोग भला उसे क्या समझेंगे!

इसी प्रसंग में स्मरण हो आता है – सम्भ्रान्त कुल की एक महिला कर्मविपाक से गलत रास्ते पर चली गयी थीं, परन्तु उनके पूर्व जन्मों के पुण्य भी थे, इसीलिए वे किसी साधु की दृष्टि में आयीं और उनसे सदुपदेश पाकर अपने दुष्कर्म तथा भ्रम समझकर विशेष अनुतप्त हुई । उन्ही साधु के उपदेश से एक दिन वे बागबाजार के भवन में आकर माँ के श्रीचरणों में उपस्थित हुई थीं । मन्दिर में प्रवेश करते समय वे संकुचित हो गयीं और द्वार के पास ही खड़ी होकर रोते हुए अपने सारे पापों की बात उन्होंने माँ के समक्ष व्यक्त करने के बाद

कहा, "माँ, मेरे लिए क्या उपाय है? मैं आपके पास इस मन्दिर में प्रवेश करने के अयोग्य हूं ।" इस पर माँ ने आगे बढ़कर अपने पवित्र बाहुओं में महिला को समेटते हुए सस्नेह कहा, "आओ बेटी, भीतर बैठो । पाप क्या है, यह समझकर तुम अनुतप्त हुई हो । आओ, मैं तुम्हें मंत्र दूँगी । ठाकुर के चरणों में सब कुछ अर्पित कर दो – भय की क्या बात है?"

मनुष्य के पाप-ताप रोग-शोक का भार अपने कन्धों पर लेकर उन्हीं के समान पतितोद्धारिणी दयामयी ही हँसते हुए कह सकती हैं, "क्यों जी? ठाकुर इस बार क्या केवल रसगुल्ले खाने के लिए आये थे?"

१४ अप्रैल १९२०

संध्या की आरती समाप्त हो गयी है । जाकर देखा तो माँ को बुखार था । रासबिहारी महाराज माँ के हाथों पर हाथ फेर रहे थे । ब्रह्मचारी वरदा चरणसेवा में लगे थे । थर्मामीटर लगाया गया है । माँ नेत्र मूँदे लेटी हुई हैं । मैं एक किनारे जाकर खड़ी हो गयी । माँ ने एक बार आँखें खोलकर पूछा,"कौन?" उत्तर में रासबिहारी महाराज ने मृदु स्वर में कुछ कहा । वह पास में ही थी । बुखार देखने के बाद मानो सुना कि वह १००.१ डिग्री था ।

सुधीरा दीदी नववर्ष के अवसर पर बालिकाओं को भोज दे रही हैं । इसीलिए शाम के चार बजे से ही वे स्कूल के छात्रावास में गयी हैं । माँ ने ब्रह्मचारी वरदा से कहा कि वे सुधीरा दीदी को बुला लायें । वे आकर राधू के बच्चे को खिलाएँगी । वैसे अभी उसके खाने का समय हुआ नहीं है, परन्तु रो रहा है इस कारण राधू उसे तत्काल खिला देना चाहती है । माँ के मना करने पर राधारानी ने नाराज होकर उल्टा-सीधा बकना आरम्भ कर दिया, "तू मर जा, तेरे मुख में आग लगे ।" सुनकर हमें बड़ा गुस्सा आने लगा । माँ बीमार हैं! और ऐसे समय इस प्रकार की जली-कटी सुनाना! परन्तु राधू और भी न जाने क्या क्या बकती हुई चिल्लाने लगी । ऐसा प्राय: ही हुआ करता था, परन्तु माँ में असीम धैर्य था – वे सर्वदा सब कुछ चुपचाप सहे जाती थीं । लेकिन इस बार लम्बी बीमारी भोगने के बाद आज वे भी तिक्त हो उठी थीं; बोलीं, "हाँ, बहुत पायेगी । मेरे मर जाने पर तेरी न जाने क्या दशा होगी! पता नहीं कितने लात-झाड़ू तेरे भाग्य में लिखे हैं । आज इस नये वर्ष के दिन मैं सत्य कहती हूँ – तू पहले मर जा, उसके बाद मैं निश्चिन्त होकर जाऊँ ।" यह सुनने के बाद राधू ने जो सब बातें कहीं, उन्हें लिखने की इच्छा नहीं होती । थोड़ी देर बाद सरला दीदी आ पहुँचीं और बच्चे को खिलाने की व्यवस्था करने गयीं । हम लोगों का मन बड़ा दुखी हो उठा था । माँ आवेगपूर्वक कहने लगीं, "हवा करो बेटी, उसकी ज्वाला से मेरी हड्डियाँ जल गयी हैं ।" थोड़ी देर हवा करने के बाद उन्होंने पाँवों पर हाथ फेर देने को कहा । मैं चरणसेवा कर रही थी, तभी रासबिहारी महाराज आये और मसहरी लगाने लगे । आखिरकार मैंने कहा, "तो फिर मैं चलती हूँ, माँ ।"

माँ ने कहा, "जाओ ।" यही उनका अन्तिम आदेश तथा अन्तिम वाक्य मेरे सुनने में आया । इसके बाद मुझे कालीघाट चली जाना पड़ा और सबकी अस्वस्थता आदि के चलते पुन: जाने की सुविधा ही नहीं हुई । समाचार मिल रहे थे कि माँ का स्वास्थ्य क्रमश: बिगड़ता जा रहा है । अन्तत: जिस दिन मैं गयी, देखकर लगा कि हम लोगों का सब समाप्त हो गया है, तथापि आशा भी भला कहाँ छोड़ती है! ☐ **(क्रमश:)** ☐

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (६)

भगिनी निवेदिता

(इंग्लैण्ड में जन्मीं कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके विचारों से प्रभावित होकर वे भारत आयीं। उन्होंने अपनी एक लघु पुस्तिका में बताया है कि किस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें प्रशिक्षण देने के बाद, भारतमाता की सेवा में निवेदित किया। प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

६. काश्मीर की घाटी

यात्रीगण – स्वामी विवेकानन्द तथा यूरोपियनों की एक टोली
काल – २० जून, १८९८ ई०।
स्थान – झेलम नदी – बारामूला से श्रीनगर

हमारे डाकबँगले के कमरे में लौटकर अपने घुटनों पर छाते को रखते हुए स्वामीजी अत्यन्त उल्लासपूर्वक बोले, "कहते हैं कि भाग्यवान का बोझ भगवान स्वयं ही वहन करते हैं!" किसी संगी को साथ न लाने के कारण उन्हें ही पुरुषोचित सारे छोटे-मोटे कार्य निपटाने पड़ रहे थे और वे डोंगा आदि ठीक करने बाहर गये थे, परन्तु बाहर निकलते ही उनकी एक व्यक्ति से भेंट हो गयी और उनका नाम सुनते ही उसने सारा उत्तरदायित्व स्वयं पर लेकर उन्हें निश्चिन्त भाव से वापस भेज दिया था।

इस प्रकार वह दिन बड़े आनन्द में बीता। हमने एक समोवर से काश्मीरी चाय पी और स्थानीय मुरब्बे खाये। अपराह्न के चार बजे हमने तीन डोंगों के अपने बेड़े में प्रवेश किया और अविलम्ब श्रीनगर की ओर चल पड़े। पहली संध्या को हमने स्वामीजी के एक मित्र के उद्यान के पास लंगर डाला। हम वहाँ के बच्चों के साथ खेले, फ़ॉरगेट-मी-नॉट के फूल चुने और हाल ही में कटनी किये गये खेतों में किसानों की एक टोली द्वारा समयोचित गाने के साथ आमोदसूचक खेल देखते रहे। रात के लगभग ११ बजे अन्धकार में अपनी नौका की ओर जाते हुए स्वामीजी ने ग्रामीण लोगों में मुद्रा-प्रचलन के प्रभाव पर हो रहे हमारे उस घोर तर्क का अन्तिम अंश सुना।

अगले दिन हमने स्वयं को बर्फीले पर्वतों से घिरी एक सुन्दर उपत्यका के बीच पाया। यही 'काश्मीर की घाटी' के नाम से परिचित है; पर सम्भवत: इसे श्रीनगर की घाटी कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। नदी के ऊपर स्थित इस्लामाबाद नगर की अपनी एक अलग घाटी है और वहाँ पहुँचने के लिए हमें पर्वतों के बीच से चक्कर लगाते हुए जाना पड़ा। ऊपर नीला आकाश था और नदी से होकर जो जल प्रवाहित हो रहा था, वह भी नीला ही था। कभी कभी हमें कमल की विशाल पत्तियों के बीच से होकर जाना पड़ता था, जिनमें जहाँ-तहाँ दो-एक गुलाबी रंग के फूल खिले थे। और दोनों किनारों पर खेत फैले थे, जिनमें से किसी किसी में हमने कटाई होते देखा। यह सारा दृश्य मानो नील, हरित तथा श्वेत वर्णों का एक अद्भुत संगीत था; और वह इतना विशुद्ध तथा सजीव था कि अन्तरात्मा पर इसके सौन्दर्य की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप क्षण भर के लिए करुण रस का उद्रेक हो जाता था!

उस पहली सुबह खेतों के बीच दूर तक टहलते हुए, हम लोग एक बड़े चरागाह के बीच स्थित एक विशाल चिनार वृक्ष के पास पहुँचे। वह सचमुच ही ऐसा दिख रहा था कि कहावत की भाषा में मानो इसके तने के भीतर जगह बनाकर उसमें बीस गायों को रखा जा सकता था! स्वामीजी तत्काल ही इस स्थापत्य-कल्पना में डूब गये कि किस प्रकार इसमें एक साधु के लिए कुटिया बनायी जा सकती है। इस जीवित वृक्ष के कोटर में सचमुच ही एक छोटी-सी कुटिया बनायी जा सकती थी।

इसके बाद वे इस भाव से ध्यान-विषयक चर्चा करने लगे, जिसकी स्मृति बाद में दिखनेवाले हर चिनार को पवित्रता-मण्डित कर देनेवाली थी।

हम लोग उनके साथ पड़ोस के खलिहान में जा पहुँचे। वहाँ हमने एक वृक्ष के नीचे एक अत्यन्त सुन्दर प्रौढ़ महिला को बैठी देखा। अपने सिर पर उन्होंने काश्मीरी स्त्रियों की प्रथा के अनुसार लाल टोपी तथा श्वेत दुपट्टा ओढ़ रखा था। वे बैठकर ऊन का सूत कात रही थीं और उनकी दो पतोहुएँ तथा उनके बच्चे इस कार्य में उनकी सहायता कर रहे थे। पहले भी, पिछले शरद ऋतु के दौरान स्वामीजी इस खलिहान में आ चुके थे और तब से वे इन महिला के विश्वास तथा स्वाभिमान के बारे में प्राय: ही बोलते रहते थे। पिछली बार उन्होंने पीने के लिये पानी माँगा था, जो उन्हें तत्काल दे दिया गया था। फिर विदा लेने के पूर्व स्वामीजी ने उनसे धीरे से पूछ लिया था, "माँ, तुम कौन से धर्म की अनुयायी हो?" और इस पर वृद्धा की आवाज स्वाभिमान तथा जयोल्लास से झंकृत हो उठी थी, "अल्लाह की कृपा से मैं एक मुसलमान हूँ ! और इसके लिए मैं उनकी शुक्रगुज़ार हूँ।" इस बार पूरे परिवार ने एक पुराने मित्र के रूप में स्वामीजी का स्वागत किया और उनके साथ आये लोगों के प्रति हर प्रकार की सौजन्यता का प्रदर्शन किया।

श्रीनगर तक पहुँचने में दो-तीन दिन लग गये थे और एक दिन शाम के भोजन के पूर्व जब हम लोग खेतों में टहल रहे थे, तो कालीघाट का दर्शन कर आनेवाली हममें से एक ने, जिन्हें वहाँ का भावातिरेक का वातावरण बेजार लग रहा था, शिकायत के स्वर में स्वामीजी से कहा, "ये लोग मूर्ति के सामने भूमि पर साष्टांग प्रणाम क्यों करते हैं?" स्वामीजी उस समय हमें तिल का फसल दिखाते हुए बता रहे थे कि यह अंग्रेजी 'दिल' शब्द का मूल रूप है और यही "आर्यों का सबसे प्राचीन तिलहन है।" परन्तु पूर्वोक्त प्रश्न सुनकर वह छोटा-सा नीला फूल उन्होंने अपने हाथों से गिरा दिया, स्थिर होकर खड़े हो गये और बड़ी गम्भीर वाणी में कहने लगे, "प्रतिमा के सामने प्रणाम करना और इस पर्वतमाला के सम्मुख प्रणाम करना क्या एक ही बात नहीं है?"

आचार्यदेव ने हमें वचन दिया था कि गर्मियों की समाप्ति के पूर्व ही वे हमें किसी निर्जन स्थान में ले जाकर ध्यान करना सिखायेंगे। अब हमें श्रीनगर जाना था, क्योंकि वहाँ हमारी बहुत-सी डाक एकत्र हो गयी थी और इन छुट्टियों के लिए व्यवस्था का प्रश्न उठा। ऐसा निर्णय हुआ कि पहले हम देश को देखेंगे और उसके बाद एकान्तवास में चले जायेंगे।

श्रीनगर की पहली शाम को हमने कुछ बंगाली अधिकारियों के साथ बाहर भोजन किया और वार्तालाप के दौरान पाश्चात्य अतिथियों में से एक ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि प्रत्येक राष्ट्र का इतिहास कुछ विशिष्ट आदर्शों को विकसित तथा प्रकट करता है और

उनके नागरिकों को चाहिए कि वे उन्हीं को सत्य मानकर दृढ़तापूर्वक पकड़े रहें। हमे यह देखकर विस्मय हुआ कि वहाँ उपस्थित हिन्दुओं ने इसका प्रतिवाद किया। उनकी दृष्टि में यह एक स्पष्ट बन्धन था और मानव का मन कभी चिरकाल के लिए उसकी अधीनता नहीं स्वीकार कर सकता। इस मत के बन्धनात्मक अंश के प्रति विद्रोह करके लगता है वे उस पूरे विचार के प्रति न्याय नहीं कर सके थे। अन्त में स्वामीजी ने मध्यस्थता करते हुए कहा, "मुझे लगता है कि आप लोग यह बात तो अवश्य स्वीकार करेंगे कि मानवी प्रकृति की चरम इकाई के रूप में भौगोलिक़ की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक विभाजन ही कहीं अधिक स्थायी है।" और इसके बाद उन्होंने हम सबके परिचित लोगों में से उदाहरण देते हुए कहा कि उन्होंने जितने भी ईसाई मतावलम्बी देखे हैं उनमें से एक बंगाली महिला को ही वे सबसे आदर्श 'ईसाई' मानते हैं और दूसरी महिला पश्चिम में जन्म लेकर भी उनसे (स्वयं स्वामीजी से) भी श्रेष्ठ हिन्दू हैं। और क्या यही सर्वाधिक वांछनीय नहीं लगता कि हर व्यक्ति को दूसरे के देश में जन्म लेकर अपने अपने आदर्श का यथासम्भव प्रसार करे?

७. श्रीनगर का जीवन

काल – २१ जून से १५ जुलाई १८९८ ई०।
स्थान – श्रीनगर

प्रातःकाल हम लोग पहले के समान ही काफी लम्बे समय तक चर्चाएँ करते रहते। कभी काश्मीर के विभिन्न धार्मिक युग, कभी बौद्धधर्म का नीतिशास्त्र, कभी शिवोपासना का इतिहास, या फिर कभी कनिष्क के दिनों में श्रीनगर की अवस्था – इन्हीं विषयों पर हमारी बातचीत हुआ करती।

एक बार किसी के साथ बौद्धधर्म पर चर्चा करते हुए स्वामीजी सहसा बोल उठे, "सच तो यह है कि अशोक के काल में बौद्धधर्म ने जो कुछ करने का उद्योग किया था, उसके लिए जगत अभी तक तैयार नही हो सका है!" वे सर्वधर्म-समभाव की बात कर रहे थे। यह एक बड़ा ही अद्‌भुत चित्र था कि किस प्रकार अशोक के धार्मिक साम्राज्य को बारम्बार आनेवाली इस्लाम तथा ईसाई धर्म की तरंगों ने छिन्न-भिन्न कर दिया तथा किस प्रकार इन दोनों ने मानवीय चेतना पर एकाधिकार का दावा किया। और अन्त में उन्होंने बताया कि अब निकट भविष्य में उस महा-समन्वय के स्वप्न के रूपायन की सम्भावना दिख रही है।

एक अन्य समय मध्य एशिया के विजेता चंगेज खाँ का प्रसंग चल रहा था। उन्होंने उत्तेजित होकर कहा, "लोग उनका एक असभ्य आक्रमणकारी के रूप में उल्लेख किया करते हैं, परन्तु यह सत्य नहीं है। ये महान आत्माएँ कभी धनलोलुप या निकृष्ट नहीं हो सकतीं। वे एकता के विचार से अनुप्राणित हुए थे और उन्होंने जगत को एक साथ जोड़ना चाहा था। हाँ, नेपोलियन भी उसी साँचे में गढ़े हुए थे। एक अन्य – सिकन्दर भी उसी श्रेणी के थे। केवल ये तीन ही – या फिर सम्भव है कि एक ही आत्मा ने इन तीन विभिन्न दिग्विजय अभियानों के द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त किया हो!" और इसके बाद वे अपनी उस धारणा के बारे में बताने लगे कि किस प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी ईश्वर के माध्यम से मनुष्यों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की दिव्य प्रेरणा के साथ एक ही आत्मा बारम्बार अवतीर्ण हुआ करती है।

इन्हीं दिनों मद्रास से निकलने वाली 'प्रबुद्ध-भारत' पत्रिका का सद्य:स्थापित मायावती आश्रम में स्थानान्तरण हुआ था और यही बात उस समय हमारे विचारों में छाई रहती थी। स्वामीजी का सदा से ही इस पत्रिका से विशेष लगाव था, जैसा कि उनके द्वारा दिये गये इसके सुन्दर नाम से ही प्रकट होता है। वे सदैव ही अपनी कई पत्रिकाएँ आरम्भ करने को उत्सुक रहते थे। आधुनिक भारत में शिक्षा-प्रसार की दृष्टि से पत्रिकाओं के महत्व से वे भलीभाँति अवगत थे और उन्हें लगता था कि उनके गुरुदेव का सन्देश तथा उनकी विचार-प्रणाली इस माध्यम के द्वारा और साथ ही व्याख्यान तथा कार्य के द्वारा होना चाहिए। अत: दिन-पर-दिन वे जैसे विभिन्न केन्द्रों के लोक हितकर कार्यों के भविष्य पर विचार करते, उसी प्रकार इन पत्रिकाओं के भविष्य के बारे में भी कल्पना करते। स्वामी स्वरूपानन्द के नये सम्पादकत्व में शीघ्र ही पुन: प्रकाशित होनेवाले इस पत्रिका के प्रथम अंक के बारे में वे प्राय: प्रतिदिन ही बातें करते। एक दिन अपराह्न में जब हम सभी बैठे हुए थे, तभी वे एक कागज ले आये और बोले कि उन्होंने एक पत्र लिखने का प्रयास किया, परन्तु वह इस रूप में बन पड़ा था –

प्रबुद्ध भारत के प्रति

तू जाग जाग फिर एक बार !
वह मृत्यु नहीं बस निद्रा थी, संचारित करने नवजीवन,
मिट जाये तेरी नयन-क्लान्ति, नव प्राणों का हो स्पन्दन।
अब भी निहारते पथ तेरा, उत्सुकता से दुनिया के जन।
है अमर सत्य तू चिर उदार।। तू जाग जाग फिर एक बार।।

चल दे फिर से पर ध्यान रहे, रखना ऐसे निज कदमों को,
पथ पर नीचे बिखरे रज की भी, शान्ति भंग ना उससे हो।
तू सुदृढ़ सबल आगे ही बढ़, निर्भीक-मुक्त-आनन्दमगन।
निज वाणी से जागरणदूत ! उपजा सब प्राणों में सिहरन।।

अब छूट चुका वह गृह तेरा, जिसमें तुझको अति स्नेह मिला,
लालित-पालित हो प्रियजन में, तू विकसित होकर खूब खिला।
पर यही भाग्य की नीयति है, यह विश्व नियम के अन्तर्गत,
सब दृश्य-अदृश्य वहीं फिरता, जो जहाँ कहीं से हो आगत।
फिर से लेने नव शक्तिसार।। तू जाग जाग फिर एक बार।।

अब तुझको पुन: निकलना है, निज जन्मभूमि की माटी से,
हिम से आच्छादित शिखर यहाँ, बरसाते तुझ पर आशीषें।
देते हैं तुझको शक्तिदान, कर्मों से कर विस्मित जग को।
सुर सरिताएँ पहनाती हैं, संगीत मधुर तव वाणी को।
चिर शान्ति दे रहे हैं तुझको, वन के छायामय देवदार।। तू.।।

सर्वोपरि यहाँ विराजित हैं, कोमल पवित्र हिमशैल-सुता,
जो शक्ति और जीवन बनकर, बसती हैं सबमें जगदम्बा।

अद्वैत तत्त्व से चला रहीं, जो कर्म सभी जग के अशेष,
जिनकी करुणा से मुक्तिद्वार, खुल जाता दिखता वस्तु एक । ।
दें तुझको वे निज शक्ति परम, जो कहलाता है अमित प्यार ।। तू. ।।

ऋषिमुनिगण का आशीष महत्, तेरे शुभ मस्तक के ऊपर,
ना देश काल का दावा है, मानवता के उन पितरों पर ।
था जिन्हें सत्य अनुभूत परम, बाँटा था भले-बुरे सबको,
तू उनका ही चिर सेवक है, है जान चुका तू सत्यों को ।
बस 'एक' वही, अब तज विचार । तू जाग जाग फिर एक बार ।।

अब बोल वत्स हे प्रेमरूप ! अपना प्रशान्त औ' कोमल स्वर ।
तू देख कहाँ ओझल होते, सपने निज ही तह तह खुलकर ।
बस केवल सत्य बचा रहता, उज्ज्वल निज महिमा में अपार ।। तू. ।।

घोषित कर दे इस दुनिया में – जागो, उठकर छोड़ो सपने ।
यह स्वप्नलोक है कर्म यहाँ, गूँथा करता माले अपने ।
मीठे-जहरीले भावों के पुष्पों से, जो जड़-तन्तु हीन ।
खिलते रहते जो निराधार, पर सत्य उन्हें करता विलीन ।

तू साहसपूर्वक झेल इसे, वह सत्य नित्य तुझसे अभिन्न ।
छाया के मिथ्याभास सभी, होंगे पल भर में छिन्न-भिन्न ।
यदि स्वप्न-जगत् में तू चाहे, प्रतिपल विचरण करते रहना ।
चिर प्रेम और निष्काम कर्म के ही सपने देखा करना ।

२६ जून । आचार्यदेव हम सबको छोड़कर एकाकी किसी शान्तिपूर्ण स्थान में जाने को उत्सुक थे । पर इस बात से अवगत न होने के कारण हम उनके साथ क्षीरभवानी नामक दुधिया जलवाले सोतों को देखने जाने का हठ करने लगीं । सुनने में आया कि इसके पूर्व कभी किसी ईसाई या मुसलमान ने वहाँ पदार्पण नहीं किया है । बाद में इसका दर्शन करके हम कितनी कृतार्थ हुई थीं, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि भगवान ने मानो निश्चित कर रखा था कि यह नाम हमारे लिए सर्वाधिक पवित्र घटना हो उठेगी । वहाँ एक रोचक बात ऐसी हुई कि हमारे मुसलमान माझियों ने हमें जूते पहने हुए नहीं उतरने दिया – काश्मीर का इस्लाम-धर्म हिन्दुत्व से इतना ही अनुप्राणित है ! फिर इन लोगों के चालीस ऋषि भी हैं और उपवास रखते हुए उनके मन्दिरों की तीर्थयात्रा की जाती है ।

२९ जून । एक अन्य दिन हम लोग स्वयं ही धीरे से तख़्त-ए-सुलेमान देखने चले गये । वहाँ दो या तीन हजार फीट की ऊँची एक छोटी पहाड़ी के शिखर पर एक छोटा-सा बड़ा मजबूत मन्दिर बना हुआ था । यह एक बड़ा ही शान्त तथा सुन्दर स्थान था और वहाँ से नीचे की ओर मीलों तक फैला सुप्रसिद्ध तैरता हुआ उद्यान दिखायी दे रहा था । प्रसंग उठने पर स्वामीजी जो तर्क किया करते थे कि मन्दिरों तथा स्थापत्य के निर्माण हेतु स्थानों के चयन में हिन्दुओं का प्रकृति-प्रेम व्यक्त हो उठा है, तख़्त-ए-सुलेमान उसका एक उत्कृष्ट उदाहरण था । जैसा कि एक बार उन्होंने लन्दन में कहा था, "प्राकृतिक दृश्यों का आस्वादन करते रहने के लिए ही सन्तगण पर्वत-शिखरों पर रहा करते थे" – और अब

यहाँ एक-पर-एक उदाहरण देकर वे बताने लगे कि भारतवासियों ने सदैव ही अद्भुत सुन्दरता तथा महत्व के स्थानों को पूजा की वेदी में परिणत कर दिया है । और इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूरी घाटी पर प्रबल रूप से छाये हुए इस पर्वत की चोटी पर स्थित यह छोटा-सा तख़्त इस तथ्य की प्रत्यक्ष गवाही दे रहा था ।

उन दिनों की अनेक छोटी छोटी सुन्दर बातें स्मृतिपटल पर उभर आती हैं, यथा –

तुलसी जग में आय के सबसे मिलिये धाय ।
क्या जाने किस भेस में नारायण मिल जाय ।

– तुलसीदास कहते हैं कि इस जग में सबसे मिल-जुलकर रहने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि कौन जाने नारायण कब किस रूप में प्रगट हो जायँ ।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च । (श्वेताश्वतर ६.१२)

– एकमात्र देवता सर्वभूतों में छिपे हुए हैं; वे सर्वव्यापी, सर्वभूतों के अन्तरात्मा, सर्व कर्मो के नियामक, सबके आधार, साक्षी, चैतन्यदाता, असंग और निर्गुण हैं ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् । (वही, ६.१४)

– जहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, और न चन्द्रमा या तारे ही ।

हमने वह कहानी भी सुनी कि किस प्रकार रावण को यह सलाह दी गयी कि वह सीताजी को धोखा देने के लिए राम का रूप धारण करे । तो इस पर उसने उत्तर दिया था, "क्या तुम ऐसा सोचते हो कि मेरे मन में यह बात नहीं आयी थी? परन्तु किसी व्यक्ति का रूप धारण करने के लिए पहले उसका ध्यान करना पड़ता है; और राम तो स्वयं भगवान हैं, अतः जब मैं उन पर ध्यान करता हूँ, तो – **तुच्छं ब्रह्मपदं परवधूसंगः कुतः** – ब्रह्मपद भी तृण के समान तुच्छ लगता है, फिर परनारी की तो बात ही क्या है?"

फिर इस पर टिप्पणी करते हुए स्वामीजी ने कहा,"इस प्रकार देखो, अत्यन्त साधारण व्यक्ति या यहाँ तक एक अपराधी के जीवन में भी हमें इन सब उच्च भावों की झलक मिल जाती है ।" सर्वदा ही ऐसा हुआ करता था । वे कभी किसी कार्य या चरित्र की दुर्बलताओं या दुर्वृत्तियों को महत्त्व न देकर निरन्तर मानव-जीवन की उसमें अन्तर्निहित दिव्यतत्व की अभिव्यक्ति के रूप में ही व्याख्या करते रहते थे ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः । (गीता, २. ६९)

– जगत के लोगों के लिए जो रात है, संयमी व्यक्ति उसमें जागता रहता है । और जिसमें दुनिया के लोग जागते रहते हैं, उसे वह निद्रा के रूप में देखता है ।

एक दिन 'ईसानुसरण' के रचयिता टॉमस-ए-केम्पिस का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि किस प्रकार एक परिव्राजक के रूप में भ्रमण करते समय ग्रन्थों के नाम पर वे अपने पास केवल गीता तथा ईसानुसरण ही रखते थे । फिर इन पाश्चात्य सन्त के नाम से अविच्छेद्य रूप से जुड़ी एक उक्ति की उन्हें स्मृति हो आयी – "ओ जगत के आचार्यो, मौन हो जाओ । पैगम्बरो, तुम भी मौन हो जाओ । हे प्रभो, एकमात्र तुम्हीं मेरी अन्तरात्मा के साथ वार्तालाप करो !"

इसके बाद उन्होंने आवृत्ति की –

तपः क्व वत्से च तावकं वपुः ।

पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं, शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः । (कुमारसम्भव)

– वत्से, कहाँ तो तपस्या और कहाँ तुम्हारा यह कोमल शरीर! सुकोमल शिरीष पुष्प भ्रमर का पदाघात ही सह सकता है, पक्षी का भार नहीं! अतः हे उमा, तुम तपस्या करने मत जाओ।

फिर वे गाने लगे – "हे मेरे हृदय में रमण करनेवाली, प्राणों की पुतली अम्बे! आकर मेरे हृदय-आसन पर बैठो और मैं तुम्हें निरखता रहूँ।"

बीच बीच में उस महान काव्य गीता पर भी लम्बी चर्चा हुआ करती थी, जिसमें दुर्बलता या कापुरुषता का लेश तक नहीं है। एक दिन वे बोले कि यह दोषारोपण बिल्कुल निराधार है कि स्त्रियों तथा शूद्रों को ज्ञानचर्चा में अधिकार नहीं दिया गया। क्योंकि स्त्रियाँ तथा सभी जातियो के लोग महाभारत पढ़ सकते थे और उसी के एक अंश गीता में समस्त उपनिषदों का सार निहित है, जिसकी सहायता के बिना सम्भवतः उन्हें समझा भी नहीं जा सकता।

४ जुलाई। स्वामीजी तथा उनकी एक गैर-अमेरिकी शिष्या ने बड़े आनन्द तथा गोपनीयता के साथ 'चौथी-जुलाई' (अमेरिकी स्वाधीनता-दिवस) का समारोह मनाने की तैयारियाँ कीं। उन्होंने शिष्या को इस प्रकार खेद व्यक्त करते सुना था कि जलपान के समय अपने अमेरिकी मित्रों की टोली का उनके राष्ट्रीय त्यौहार के अवसर पर स्वागत करने के लिए हमारे पास उनके देश का ध्वज नहीं है। ३ जुलाई के अपराह्न में वे बड़े उत्साहपूर्वक एक पण्डित दर्जी को ले आये और कहा कि यदि इसे समझा दिया जाय, तो यह बड़े आनन्द के साथ उसकी अनुकृति तैयार कर देगा। इसके फलस्वरूप जब हमारे अमेरिकी मित्र अपने स्वाधीनता-दिवस पर जलपान के लिए भोजनालय की नौका में प्रविष्ट हुए, तो एक किनारे सदाबहार की टहनियों के साथ दीवाल पर कीलों से जड़े हुए सूती वस्त्र पर बड़े अनाड़ी ढंग से सितारों की आकृति तथा पट्टियाँ लगी हुई थीं। इस छोटे-से समारोह में उपस्थित रहने के लिए स्वामीजी ने अपनी एक यात्रा स्थगित कर दी थी और विभिन्न अभिभाषणों के बीच अभिनन्दन के रूप में उन्होंने एक कविता प्रस्तुत की –

चौथी जुलाई के प्रति

मेघ काले छँट रहे हैं देख लो, ढँक रहे जो रात में आकाश को,
और धरती पर तनी थी उस समय, घोर छाया ले उदासी शोकमय,
किन्तु जादू-सा तुम्हारा स्पर्श है, जागता है विश्व अब पाकर उसे।

ओसकण मोती सितारे ताज के, जिन्हें पहने पुष्प हैं सब खिल रहे,
और स्वागत में तुम्हारे हिल रहे, हैं लगी चिड़ियाँ सभी सहगान में,
खोलते निज उर-सरोवर प्रेम से, शत-सहस्रों कमलनेत्र उघाड़ते,
कर रहे स्वागत तुम्हारा वे सभी, भावसह गहराइयों से प्राण के।

ज्योति के हे देवता! जय हो तुम्हें, आज नव-स्वागत तुम्हारा हो रहा,
आज दिनकर भी उदय होकर महा, मुक्ति का आलोक है फैला रहा,
तुम्हीं सोचो विश्व ने कितना किया, शोध तेरा देश में औ' काल में,

गेह छोड़ा और सुहृदों का लगाव, हुए निर्वासित तुम्हारी चाह में,
उफनते सागर घने वनप्रान्त में, हर कदम जीवन लगा था दाँव पर ।

तब समय आया हुआ सब श्रम सफल, और पूजा-प्रेम तव बलिदान भी,
मिल गयी सब पूर्णता-स्वाधीनता, और जीवन की नयी आशा जगी,
ज्योति शुभ स्वाधीनता की तुम लिये, उठ गये दुनिया को देने के लिए ।

देव! अब चल दो स्वपथ निर्बाध पर, फैल जाये रौशनी मध्याह्न की,
और जग के देश सब आलोकमय, हो न जायें तब तलक चलते रहो,
विश्व के नारी-पुरुष मस्तक उठा, देख लें बन्धन सभी टूटे हुए,
और हृदि के उफनते उल्लास में, बोध कर लें स्वयं का जीवन नया ।

५ जुलाई । उस दिन संध्या के समय एक शिष्या ने पाश्चात्य महिलाओं में प्रचलित प्रथा के अनुसार हँसी हँसी में उनका विवाह कब होगा यह जानने के लिये अपनी अपनी तश्तरी की चेरी फल की गुठलियों को गिनकर देखा । स्वामीजी इस पर बड़े दुखी हुए । न जाने कैसे उन्होंने इस खेल को सत्य ही समझ लिया था और अगले दिन जब वे आये, तो प्रबल वैराग्य के भाव से परिपूर्ण थे ।

६ जुलाई । अपराधी के साथ कोमल सहानुभूति दिखाने की अपनी प्रायः ही दिख पड़नेवाली इच्छा के साथ वे गम्भीरतापूर्वक कहने लगे, "गृह तथा विवाह की ये छायाएँ कभी कभी मेरे मन में भी उत्थित हुआ करती हैं!" परन्तु इसके बाद धर्म के वास्तविक आदर्श पर बल देने के लिए उन्होंने गार्हस्थ-जीवन को महिमामण्डित करनेवालों पर तिरस्कारों की झड़ी लगा दी । वे तीक्ष्ण स्वर में बोल उठे, "जनक बनना – पूर्ण रूप से अनासक्त होकर सिंहासन पर बैठना – धन, यश अथवा स्त्री-पुत्रों की बिल्कुल भी परवाह न करना – यह सब क्या इतना ही सहज है? पाश्चात्य देशों में अनेक लोगों ने मुझसे बारम्बार कहा है कि उन्हें इस अवस्था की उपलब्धि हो चुकी है, परन्तु मैं उनसे केवल इतना ही कह सका, 'ऐसे महान लोग तो भारत में भी जन्म नहीं लेते'!"

और तब वे दूसरे पक्ष की ओर मुड़े और अपने श्रोताओं से बोले, "यह बात कभी न भूलना और अपने बच्चों को भी सिखाना –

मेरुसर्षपयोर्यद्वत् सूर्यखद्योतयोरिव ।
सरित्सागरयोर्यद्वत् तथा भिक्षुगृहस्थयोः ।

– मेरु पर्वत तथा सरसों में जितना भेद है, सूर्य तथा जुगनू में जितना अन्तर है और समुद्र तथा जलाशय में जितना फरक है; संन्यासी और गृहस्थ के बीच भी उतना ही भेद है ।

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ।

– पृथ्वी की सभी चीजें मनुष्य के लिए भय से परिपूर्ण हैं, एकमात्र वैराग्य ही अभयकारी है ।

"वे ढोंगी साधु भी धन्य हैं, जो अपने व्रतों के पालन में असफल रहे हैं; क्योंकि उनके माध्यम से भी आदर्श की श्रेष्ठता ही प्रमाणित होती है और इस प्रकार कुछ हद तक वे भी दूसरों की सफलता के कारण हुए हैं!

"हम अपना आदर्श कभी न भूलें ! किसी भी हालत में न भूलें!"

ऐसे अवसरों पर वे अपने प्रतिपाद्य विचारों के साथ पूर्णत: एकरूप हो जाते थे और जिस अर्थ में एक प्राकृतिक नियम को निष्ठुर या कठोर ठहराया जाता है, उनकी व्याख्या भी उन्ही गुणों से युक्त हो सकती थी। बैठकर सुनते हुए हमें अनुभव होता मानो हम अदृश्य नथा निर्गुण तत्त्व के सम्मुखीन बैठे हों।

यह सब हमारे डल झील से श्रीनगर लौट आने के बाद हुआ। हमारे चौथी जुलाई के समारोह का वास्तविक अनुष्ठान डल झील का अवलोकन ही था। वहाँ हमने नूर महल का शालीमार बाग तथा निशात बाग या आनन्द का उद्यान देखा था और विशालकाय चिनार वृक्षों के नीचे हरे आइरिस के पुष्पों के बीच सूर्यास्त का समय व्यतीत किया था।

उसी दिन धीरा माता तथा जया अपने किसी निजी कार्य से गुलमर्ग के लिए प्रस्थान किया और स्वामीजी भी कुछ दूर तक उनके साथ गये थे।

अगले रविवार, १० जुलाई की रात को पहली दो महिलाएँ अप्रत्याशित रूप से वापस आ गयीं और विभिन्न सूत्रों से हमें सूचना मिली कि आचार्यदेव सोनमार्ग के पथ से अमरमाथ गये हैं और वे एक अन्य मार्ग से लौटेंगे। कौड़ी मात्र भी साथ में लिए बिना उन्होंने वह यात्रा की थी, परन्तु वह हिन्दूशासित देशी राज्य होने के कारण, उनके मित्रों के मन में किसी भी प्रकार का उद्वेग नहीं उत्पन्न हुआ।

इसके दो-एक दिन बाद एक अप्रिय घटना हुई। उनका शिष्य बनने की आकांक्षा के साथ एक युवक आया और उनके पास भेजे जाने की जिद करने लगा। हमें लगा कि वे एकान्तवास के उद्देश्य से गये हैं और यह उसमें एक अनुचित व्यवधान होगा, परन्तु चूँकि उसके बारम्बार अनुरोध पर हमें सहमति देनी पड़ी और हमारा जीवनस्रोत भी दो-एक दिनों के लिए उसी पुराने ढर्रे पर चलता रहा।

शुक्रवार, १५ जुलाई। हम किस उद्देश्य से बाहर निकल रहे थे? अपराह्न में पाँच बजे हमने नदी के प्रवाह के साथ थोड़ी दूर तक जाने के लिए नाव को खोला भर ही था कि हमारे भृत्यों ने दूर से अपने कई मित्रों को पहचान लिया और हमें सूचित किया कि स्वामीजी की नौका हमारी ओर ही आ रही है।

एक घण्टे बाद वे हमसे आ मिले और बताने लगे कि लौटकर उन्हें आनन्द का अनुभव हो रहा है। इस बार की ग्रीष्म ऋतु में असामान्य गर्मी पड़ी थी और कई हिमनदों के धँस जाने से सोनमार्ग होकर अमरनाथ जाने का मार्ग दुर्गम हो गया था। इसी वजह से उन्हें लौट आना पड़ा।

परन्तु हमने अपने महीनों के काश्मीर प्रवास के दौरान स्वामीजी के जिन तीन महान दर्शनों तथा उनसे उत्थित आनन्द का परिचय मिला था, उनमें से प्रथम का सूत्रपात यहीं से हुआ। यह ऐसा ही था मानो हम उनके गुरुदेव (श्रीरामकृष्ण) की इस उक्ति का अपनी आँखों से सत्यापन कर सके थे – "थोड़ा-सा अज्ञान अवश्य है, परन्तु उसे मेरी ब्रह्ममयी-माँ ने अपने कार्य के निमित्त उसमें रख छोड़ा है। परन्तु वह एक कागज की एक पतली झिल्ली के समान हैं, जो किसी भी क्षण फाड़ा जा सकता है।" □(क्रमश:)□

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा

श्रीमती सावित्री झा

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य प्रत्येक कार्य अपने ही सुख एवं आनन्द के लिए करता है, किन्तु क्या एक साहित्यकार भी 'स्वान्तः सुखाय' रचना कर सकता है? और यदि कर सकता है तो किस प्रकार? किसी भी सांसारिक मानव के लिए विभिन्न (पारिवारिक, सामाजिक अथवा प्राकृतिक) परिस्थितियाँ, विभिन्न वातावरण निमित्त बनते हैं और इनमें कुछ स्थायी भी होते हैं। इन्हीं के बीच मनुष्य जीवन-यापन करता है। सुख-दुख, भले-बुरे तथा उतार-चढ़ाव का सामना करता है। कोई भी साहित्यकार पहले मनुष्य है। वह तो हर स्थिति का और भी गहराई से अनुभव करता है, फिर वह अपनी कलम से कागज के पन्नों पर उसे चित्रित करता है, मूर्त रूप देता है। जब वह सामान्य प्राणियों जैसी अनुभूतियों से ही युक्त होता है, तो फिर भला कैसे कहा जा सकता है कि उसके द्वारा अंकित हर चित्र, हर विचार तथा हर भाव उसके लिए सब सुखद ही हों। मुशी प्रेमचन्द जी ने यदि स्वयं भी उस कम्बल भी नहीं खरीद सकनेवाले दरिद्र किसान के दुख की अनुभूति न की होती, तो उनकी 'पूस की रात' कहानी की रचना कैसे होती? कवि मैथिलीशरण जी ने उर्मिला की वेदना स्वय अनुभव न की होती, तो कवि की कलम भला कैसे लिख पाती 'वेदना तू भी भली बनी'? श्री जयशकर प्रसाद जी ने अपने मन की सारी पीड़ा को नेत्रों के जल में डूबोकर 'आँसू' नामक काव्य में परिणत कर दिया –

> **जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छाई।**
> **दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई॥**

कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार आसपास के वातावरण से प्रभावित होता है। वह जो कुछ देखता है, सुनता है, अनुभव करता है, उसी को कलमबन्द करता है। अर्थात वह प्रत्येक सांसारिक सुख-दुख का तीव्रता तथा गहनता से अनुभव करता है। जब वह पीड़ामय कष्टमय दुखद चित्र अंकित करता है, तो वह स्वान्तः सुखाय कैसे हो सकता है?

तुलसीदास जैसे महान कवि अपनी 'रामचरितमानस' की रचना स्वसुख के लिए करते हैं। कैसी विचित्र बात है! श्री रघुनाथजी की कथा को तुलसीदास अपने अन्तःकरण के सुख हेतु अत्यन्त मनोहर लोकभाषा में निबद्ध करते हैं –

> **स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा, भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति। १/७**

प्रथम कारण तो स्पष्ट समझ में आ ही जाता है कि वह अपने आराध्यदेव श्रीराम की गाथा गाने में अति आनन्द का अनुभव करते हैं। राम के जीवन से प्रभावित होकर वह सर्वत्र रोते, हँसते, क्षोभ करते, वीर, वात्सल्य सभी का क्रमशः प्रतिपादन करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब राम-वियोग में अवध रोया था, तो वे स्वयं क्या न रोये होंगे? राम को गंगा पार करने को उद्यत देख जब सुमन्त्र श्रीराम के अश्वों के साथ रोते हुए अवध लौट रहे थे –

फिरेउ बनिक जिमि मूरि गवाँई। २/९९/८

— "मानो कोई व्यापारी अपनी सारी पूँजी गँवाकर लौट रहा हो।" तो यह भाव लिखते समय क्या कवि का कोमल-भावुक हृदय द्रवित नहीं हुआ होगा? भरत-मिलाप में उनकी कल्पना जहाँ लेखनी में प्रवाहित हो जाती है,तो क्या उनके नेत्रों ने दो-चार बिन्दु अश्रु नहीं टपकाए होंगे? रावण से सीता माता का हरण कराकर, राम के विलाप के साथ क्या तुलसी का विलाप मिश्रित नहीं हुआ होगा? यह सब कैसे सम्भव हो सकता है? फिर भी उन्होंने कह दिया 'स्वान्तः सुखाय'। अतः हमें गहराई से सोचने पर विवश होना पड़ता है।

राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका। १/१२२/२

—राम जन्म के एक-से-एक बढ़कर अनेक विचित्र कारण थे और उसी प्रकार इस 'राम-चरित-मानस' की रचना के भी अनेकानेक हेतु हैं। कौन कौन से?

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये,
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः। ७/१३१/२

— जो लोग इस श्रीरामचरित-रूप मानसरोवर में भक्तिपूर्वक स्नान हेतु प्रवेश करते हैं, वे इस संसार-रूप सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से दग्ध नहीं होते।

यहाँ कवि की महाकाव्य-रचना के सम्पूर्ण उद्देश्य को सार रूप में कह दिया गया है। अब हमें देखना यह है कि वह किन किन प्रकार से मानव को बचाने, रक्षा करने, धर्म-संकट के समय सही मार्गदर्शन करने का कार्य सम्पादित करते हैं। कहाँ कहाँ? किन किन क्षेत्रों में? जिन विविध क्षेत्रों से दूर दूर तक जीवन-धारा प्रवाहित होती है, जितनी दीर्घ होती जाती है, उतने ही उसमें अवरोध, गतिरोध, उतार-चढ़ाव, क्षीणता-गहनता आती है। रामचरित के माध्यम से कवि ने सभी बिन्दुओं को दृष्टि में रखकर, न केवल उन पर प्रकाश डाला है, (यह कार्य तो साधारण साहित्यकार भी कर लेता है) अपितु मार्ग-दर्शन भी किया है। भूले-भटकों को पथ पदर्शित कर उनके निर्दिष्ट गन्तव्य पर पहुँचाया है।

वन गमन के साथ ही राजा दशरथ की मृत्यु से — **प्राण जाहि पर वचन न जाई** — को सिद्ध किया है। भरत को गले लगाकर, गोद में बैठाकर कौशल्या ने विमाता का भेद समाप्त कर दिया है —

अति हित मनहुँ राम फिरि आए। मातँ भरतु गोद बैठारे। २/१६५/१, ४

— माता कौशल्या ने प्रेम से भरतजी को छाती से लगा लिया, मानो राम ही लौटकर आ गये हों और उन्हें गोद में बैठाया। फिर श्रीराम ने भी निषादपति से यह कहकर जातिगत भेद-भाव को मिटा दिया है — तुम मेरे मित्र हो और भरत के समान भाई हो। अयोध्या में सदा आते-जाते रहना —

तुम मम सखा, परम प्रिय भ्राता।
सदा रहहु पुर आवत जाता॥ ७/२०/३

बालि-वध तथा रावण की सवंश मृत्यु के द्वारा उन्होंने मानवमात्र को समझा दिया कि प्रत्यंक प्राणी अपने कर्मों के फल पाने को बाध्य है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।। (गीता १८/४५)

– अर्थात अपने अपने कार्य करते हुए मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यह भी राम के राज्य में सिद्ध कर दिया है –

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग ।।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग। ७/२०

अर्थात स्वधर्माचरण करते हुए मनुष्य को कहीं कोई भय नहीं। उसके लिए अपने सिद्धान्तों एव आदर्शों को स्थापित रखते हुए केवल कर्तव्य-पालन ही आवश्यक है। इस प्रकार 'रामचरितमानस' ज्ञान, भक्ति एव कर्म के मुक्तामणियों से भरा पड़ा है। मानस तो एक अक्षयपात्र है, चुनते चुनते मनुष्य भले ही थक जाय, पर उसके मुक्ताओं का अन्त नहीं मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति को उसके उपयुक्त मार्ग दिखाने में मानस पूर्णरूप से सफल है।

अतः कविवर तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस' की रचना में सबसे बड़ा प्रयोजन है जनहित'। उनकी रचना प्रमुखतः 'परान्त-सुखाय' नहीं, बल्कि 'पर-हिताय' है। इसी कारण कवि ने मुक्त कण्ठ से उद्‌घोष किया है – **स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा।**

यह तो स्व-अनुभूति का विषय है कि कितना आनन्द आता है, दूसरों का कष्ट दूर करने में! किसी को सही मार्ग पर प्रवृत्त करने में! आपसी द्वेष-भाव मिटाकर मित्रता स्थापित करने में! स्वय भूख सहकर दूसरों का पेट भरने में! ऐसा जिसका परार्थ जीवन बन जाता है, वह स्वयं आनन्दमय बन जाता है। सत्य ही बोलता है, चैतन्य रहता है, वही आनन्दमय है। वहीं देवसरि धारा प्रवाहित होती है और **सुरसरि सम सब कर हित होई।**

जहाँ तहाँ कवि ने –

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई ।। ७/४१/१

– कहकर परोपकार का मार्ग प्रशस्त किया है। राम जटायु से कहते हैं –

तात कर्म निज तें गति पाई ।। ३/३१/८

– तुमने अपने ही कर्म से मुक्ति पाई है, मैंने कुछ नहीं किया।

परहित बस जिन्ह के मन माहीं, तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ।। ३/३१/९

काकभुशुण्डि-गरुड़ संवाद में भी सन्तों के प्रधान लक्षण बताते हुए कहा गया है –

पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ।। ७/१२५/८

परहित भरी वाणी सुनकर जहाँ गरुड़ कृतकृत्य हो जाते हैं और बोल पड़ते हैं –

मो पहिं होइ न प्रति उपकारा, बंदउँ तव पद बारहिं बारा ।। ७/१२५/४

कितना लाभ मिला होगा सुनने से, अनुमोदन करने से। जबकि ऐसा कहने पर महाज्ञानी गरुड़ विवश हो गये। फिर यदि उस मार्ग पर चलकर व्यक्ति सफल हो जाता है, तो इससे बड़ा परहित और क्या हो सकता है?

रचनाकार की 'स्वान्तः सुखाय' रचना और वह उद्‌घोष दोनों ही सार्थक हो जाते हैं। और रचनाकार स्वय कालजयी, अजर, अमर हो जाता है। □

स्वामी निर्वेदानन्द

(पिछले हजार वर्षों की दासता के दौरान भारत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली ध्वस्त हो गयी थी और उसके स्थान पर लॉर्ड मैकाले द्वारा परिकल्पित तथा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रणाली ही कमो-बेश आज तक चली आ रही है । स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने हमारे शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों पर एक लेखमाला लिखी थी, जो संघ के अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के १९२८ ई. के छः अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई । बाद में उसके परिवर्धन तथा सम्पादन के उपरान्त उसे एक पुस्तक का रूप दिया गया । १९४५ ई. में प्रथम प्रकाशन के बाद से अब तक यह ग्रन्थ शिक्षा-विषयक एक महत्वपूर्ण कृति बनी हुई है । 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

९. मूलभूत चीजें

"शिक्षा देने की गुरु के साथ रहनेवाली पुरानी संस्थाओं तथा वैसी ही प्रणाली की आवश्यकता है ।"

"छात्र को बचपन से ही एक ऐसे व्यक्ति के साथ रहना चाहिए, जिनका चरित्र एक जाज्वल्यमान अग्नि के समान हो, और इस प्रकार उच्चतम शिक्षा का एक सजीव उदाहरण सदैव उसके सामने बना रहे ।" — स्वामी विवेकानन्द

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शिक्षा की किसी भी स्वस्थ प्रणाली में चरित्र-निर्माण को एक महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए । हमने यह भी देखा कि किस प्रकार मनोनिग्रह, स्वैच्छिक आत्मसंयम और साथ ही भावों का नियमन इच्छाशक्ति को बल तथा दिशा प्रदान करते हैं और इस प्रकार मनुष्य के चरित्र या व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं । अब शिक्षा-संस्थाओं का वातावरण और शिक्षकों का चरित्र तथा आचरण ही वे प्रमुख तत्त्व हैं, जो छात्र को यह लक्ष्य प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं ।

पर्यावरण

स्थान, परिवेश, भवन, फर्नीचर तथा और भी इसी प्रकार की चीजों से मिलकर किसी संस्था का पर्यावरण बनता है । एक शैक्षणिक संस्था के निर्माण में, उसका परिवेश वस्तुत: एक बड़ा ही महत्वपूर्ण तत्त्व है । अपने मौन तथा सशक्त सुझावों के द्वारा यह छात्रों के संवेदनशील मनों को अत्यधिक प्रभावित करता है । शिक्षा की समस्याओं पर आजकल के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत पर्यावरण तथा आनुवंशिकता को व्यक्ति के निर्माण में योगदान करनेवाले दो महत्वपूर्ण तत्त्वों के रूप में रेखांकित किया गया गया है । अत: शिक्षा के स्थान का पर्यावरण छात्रों के आपेक्षित विकास के लिए उपयुक्त बनाया जाना चाहिए और इसी पर हमें सर्वाधिक ध्यान देना होगा ।

छात्रों की इच्छाशक्ति को विकसित करना होगा और उन्हें सांस्कृतिक दृष्टि से सचेत बनाना होगा । किसी भी वांछित शिक्षा-प्रणाली के ये ही प्राथमिक उद्देश्य हैं । विदेशी

सांस्कृतिक तत्त्वों में जो कुछ भी अच्छा तथा सुसंगत है, वस्तुत: उन सबको आत्मसात करते हुए, उन्हें भारतीय (नागरिकों) के रूप में, प्राचीन ऋषियों के वंशजों के रूप में विकसित होना होगा ।

जैसा कि दुर्भाग्यवश वर्तमान प्रणाली से हो रहा है, यदि शिक्षा उन्हें पाश्चात्य सांस्कृतिक आक्रमण का एक असहाय शिकार बना देती है, तो फिर यह निश्चित रूप से अत्यन्त हानिकारक ही सिद्ध होगा । हमारे राष्ट्र को यदि जीवित रहना है, तो हमें इस वस्तुस्थिति को पूरी तौर से बदलना होगा । इसलिए यही वह उपयुक्त समय है, जबकि हमें सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया को रोकने के लिए अपनी कुछ प्राचीन प्रणालियों को पुनर्जीवित करके, उन्हें वर्तमान आवश्यकताओं के साथ समायोजित कर लेना होगा ।

प्राचीन भारत में चरित्र-निर्माण शिक्षा का एक आवश्यक तत्त्व था । चूँकि एकाग्रता तथा आत्मसंयम का अभ्यास ऐसे प्रशिक्षण की मूलभूत आवश्यकता है, अत: प्राचीन गुरुकुल या ब्रह्मचर्य आश्रम प्राय: शहरों तथा उसके हजारों चित्त-विभ्रान्तक कारणों से दूर उपनगरों या यहाँ तक कि गाँवों के शान्त परिवेश में स्थित हुआ करते थे । आध्यात्मिक विकास ही इनकी प्रधान आवश्यकता होने के कारण 'सादा जीवन उच्च विचार' ही इन आश्रमों का मूलभाव हुआ करता था । सुन्दर नैसर्गिक परिवेश के बीच स्थित इन संस्थाओं में सादे कुटीर ही उनके एकमात्र सज्जा हुआ करते थे । और वहाँ पर छात्र प्रकृति की गोद में सच्चरित्र शिक्षकों के पुनीत सान्निध्य में अपने दिन बिताया करते थे । नागरिक जटिलता तथा कृत्रिमता से मुक्त होकर वे एक पवित्र तथा अनाडम्बर जीवन बिताया करते थे । परिवेश का सब कुछ स्वस्थ अनुप्रेरणा के द्वारा उनके युवा मनों में उच्चतर भाव जगाया करते थे । वहाँ का सब कुछ शान्ति एवं पवित्रता की सृष्टि करता था । आत्मसंयम, मन की एकाग्रता तथा भावनाओं का नियमन उनमें लगभग सहज भाव से ही आ जाता था ।

चूँकि पुन: चरित्र-निर्माण को ही शिक्षा का मूल आधार बनाना है, अत: ऐसी शिक्षा शैक्षणिक संस्थाओं को, और विशेषकर आवासीय संस्थाओं के लिए प्राचीन काल के समान ही इसके लिए उपयुक्त परिवेश के बीच होना चाहिए । जहाँ तक सम्भव हो, प्राचीन गुरुकुल प्रणाली को पुनर्जीवित करना होगा ।

यह एक सर्वज्ञात तथ्य है कि धूल, धुँआ, भीड़-भाड़, यथेष्ट प्रकाश तथा वायु का अभाव और हर प्रकार के जीवाणु शहर के जीवन को बच्चों के विकास के लिए अनुपयुक्त बना देते हैं । इसके अतिरिक्त शहरों की दौड़-धूप, शोरगुल और उसमें मिलनेवाले सैकड़ों प्रकार के चित्त लुभानेवाले दृश्य तथा ध्वनियाँ उनके मानसिक स्वास्थ्य पर काफी बुरा प्रभाव डालती हैं । अत: इस देश के बालकों के स्वस्थ विकास के लिए उपयुक्त शारीरिक तथा मानसिक परिवेश की महत्वपूर्ण आवश्यकता के प्रति आँखें मूँदे रहना हमारे लिए एक आपराधिक लापरलाही होगी । जहाँ तक व्यावहारिक हो, हर तरह की शैक्षणिक संस्थाएँ शहरों के निश्चित रूप से विषैले वातावरण से दूर हों ।

फिर छात्रों में सांस्कृतिक आत्म-चेतना को जगाने के लिए प्रत्येक संस्था के पास एक सर्वांगीण भारतीय परिवेश हो । भवन, बैठने की व्यवस्था, वस्त्र तथा भोजन – वस्तुत: एक संस्था के समस्त अवयवों पर भारतीयता की पूरी छाप हो । सभी चीजें हमारे देश के

सांस्कृतिक भावों तथा आदर्शों के अनुरूप हों । इस प्रकार भारतीय कार्यप्रणाली का दृढ़तापूर्वक पालन किया जाय, पर यदि विचार करने के बाद यदि कोई विदेशी पद्धति निस्संदिग्ध रूप से उत्कृष्ट प्रतीत हो, तो उसे अपवाद के रूप में अपनाया जा सकता है ।

भारतीय आदर्श मूलत: आध्यात्मिक है । शैक्षणिक संस्थाओं को इसी आदर्श के अनुरूप ढालना होगा । सरलता तथा पवित्रता उनके वैशिष्ट्य हों । ऐसी संस्था में एक पवित्रता का वातावरण व्याप्त रहे । हर दृष्टिकोण से वह ज्ञान का एक ऐसा पवित्र मन्दिर जैसा प्रतीत हो, हिन्दू परम्परा के अनुसार सरस्वती जिसकी अधिष्ठात्री देवी हैं ।

स्थान का निर्वाचन तथा भवनों की संरचना इस केन्द्रीय आवश्यकता के अनुरूप हो । उसमें ऐसा कुछ भी न हो, जो एक बँगले की छिछली विलासिता या फिर सैनिकों की छावनी के यांत्रिक तथा भोंड़ी कृत्रिमता का संकेत दे । भलीभाँति चुने हुए ग्राम्य अथवा उपनगरीय क्षेत्र के नैसर्गिक पृष्ठभूमि के साथ पवित्रता, सरलता, उपयोगिता, मितव्ययिता तथा सौन्दर्य के भावों को मिलाकर वहाँ एक समायोजन की सृष्टि की जाय ।

ऐसे परिवेश के बीच साधारण भवन ही अधिक उपयुक्त होंगे । भीड़-भाड़ भरे शहरों में ही खुले स्थानों की कमी के कारण बड़े भवनों की उपयोगिता है । इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि ऐसे भवनों में निवास करने से निम्न-मध्य वर्ग के परिवारों से आनेवाले छात्रों को भी अपने घर लौटने से अरुचि उत्पन्न होगी और यह उनमें ऐसी महत्वाकांक्षाएँ भी उत्पन्न कर सकता है, जो वर्तमान बेरोजगारी के दिनों में शायद ही पूरी हो सकें । भवन सादे हों, तथापि उन्हें तथा उनके परिवेश को विशेष रूप से साफ-सुथरा रखा जाय । उनमें काफी मात्रा में प्रकाश तथा शुद्ध हवा आने की व्यवस्था हो । यह सब कुछ एक ऐसे वस्तुपरक पाठ के समान हो, जिससे छात्रगण सीख जायँ कि बड़े होने पर अपनी सीमित आय में ही वे किस प्रकार अपने ग्रामीण आवास की स्वच्छता एवं सुन्दरता में सुधार ला सकते हैं ।

शिक्षक

इस सम्बन्ध में अगली महत्वपूर्ण बात है – शिक्षक का चरित्र । यह भी मौन संकेतों के द्वारा छात्रों के मन पर क्रियाशील पर्यावरण का एक सशक्त तत्त्व सिद्ध होता है । शिक्षक को स्वयं भी सहज, अनाडम्बर, ईमानदार, सच्चा, निर्भीक तथा सक्रिय होना होगा, तभी वे छात्रों को भी इन गुणों की उपलब्धि के लिए प्रेरित कर सकेंगे । केवल बातों की कोई उपयोगिता नहीं ।

टनों लम्बी बातों की अपेक्षा छटाँक-भर अभ्यास का कहीं अधिक वजन होता है । व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा परिपुष्ट हुए बिना केवल उपदेशों का कोई भी मूल्य नहीं । निस्सन्देह यह एक सर्वविदित तथ्य है, तथापि व्यवहार में इसे प्राय: ही नजरन्दाज कर दिया जाता है ।

इन दिनों जिस प्रकार शिक्षा को बौद्धिक ज्ञान का पर्यायवाची बना दिया गया है, अत: केवल इसे प्रदान करने में समर्थ लोगों को शिक्षक का दर्जा मिल जाता है । उनके चरित्र की किसी को परवाह नहीं । यह पूरी तौर से उनके व्यक्तिगत जीवन की चीज है । इस वस्तुस्थिति में आमूल-चूल परिवर्तन करना होगा । हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य-

निर्माण तथा चरित्र-निर्माण ही शिक्षा का उद्देश्य है । अतएव शिक्षकों को न केवल आधुनिक पद्धति से बौद्धिक ज्ञान देने में कुशल होना होगा, बल्कि उनके पास अपने छात्रों में उच्चतर भावों को जगाने की क्षमता भी हो । इस कारण शिक्षक के पास शिक्षण के साथ-ही-साथ एक वास्तविक सुदृढ़ चरित्र का भी प्रमाणपत्र हो ।

प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में बहुधा त्यागी लोग ही शिक्षक हुआ करते थे । नालन्दा तथा विक्रमशीला के समान विद्यालय संन्यासी-संघों द्वारा चलाये जाते थे । यहाँ तक कि हमारे भी काल में टोल तथा संस्कृत पाठशालाएँ सरल तथा आध्यात्मिक भावापन्न गृहस्थों द्वारा चलायी जाती हैं । राष्ट्रीय आधार पर इस देश की शिक्षा को पुनर्गठित करने के लिए हमें अपनी राष्ट्रीय पद्धति के इस पक्ष की ओर ध्यान देना होगा और जहाँ तक व्यावहारिक रूप से सम्भव हो इसका संरक्षण करना होगा ।

शिक्षक के लिए यही उचित होगा कि वह अपने कार्य को त्याग एवं सेवा के भाव से स्वीकार करे । उसे एक आध्यात्मिक साधक होना चाहिए । उसे एक ऐसा सच्चरित्र तथा सन्तोषी व्यक्ति होना चाहिए, जिसकी आवश्यकताएँ कम-से-कम हों । अच्छा तो यही होगा कि वह धन के बदले अपने ज्ञान का विक्रय न करे । प्राचीन काल के समान ही सरकार अथवा ज्ञान के अन्य संरक्षकों के द्वारा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है । ऐसी स्थिति में छात्रों के साथ उसका सम्बन्ध व्यावसायिकता के द्वारा कलुषित होने से बचाया जा सकेगा । हिन्दू परम्परा के अनुसार एक शिक्षक का अपने छात्र के साथ उतना ही पवित्र सम्बन्ध होता है, जितना कि एक पिता का अपने पुत्र के साथ । धन का महत्व ऐसे सम्बन्धों की पवित्रता को नष्ट कर देता है । शिक्षक तथा उसके छात्रों के आपसी सम्बन्ध की पवित्रता को बनाये रखने के हेतु उपयुक्त उपाय ढूँढ़ निकालने के लिए गम्भीर प्रयास करने होंगे ।

ऐसी आशा की जाती है कि व्यावसायिक कालिमा से मुक्त एक 'जाज्वल्यमान चरित्र' का शिक्षक अपने छात्रों की श्रद्धा तथा प्रशंसा का भाजन होगा और उनके अन्दर निहित परिपूर्णता को अभिव्यक्त करने में सहायता पहुँचाकर उनके मनों पर आवश्यक प्रभाव का विस्तार कर सकेगा ।

केवल ऐसे शिक्षक ही छात्रों को उस स्वैच्छिक समर्पण के भाव में अनुप्राणित कर पाने की स्थिति में हैं, जो कि सही दिशा में उनके विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है । आतंक के द्वारा जबरन समर्पण करानेवाली वर्तमान पद्धति का एक हानिपूर्ण हतोत्साहकारी प्रभाव होता है । स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "सच्चा शिक्षक वह है, जो तत्काल छात्र के स्तर तक उतर सकता हो और अपनी आत्मा को छात्र की आत्मा में प्रविष्ट करा सकता हो तथा उसी के मन के द्वारा देख-समझ सकता हो । केवल ऐसे ही शिक्षक शिक्षा प्रदान कर सकते हैं, दूसरे कोई नहीं ।" ☐(क्रमशः)☐

अन्न की महिमा

भैरवदत्त उपाध्याय

अन्न मानव-जीवन का प्रमुख आधार है। मानव-शरीर को आवश्यक ऊर्जा अन्न से प्राप्त होती है। उसके बिना मानव के अस्तित्व की कल्पना निराधार है। ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि परमात्मा ने जब अग्नि आदि देवताओं को उत्पन्न किया, तब उन्होंने उस परमेश्वर से इन्हें ऐसे स्थान पर प्रतिष्ठित करने को कहा, जहाँ उन्हें खाने को अन्न और पीने को जल मिल सके। परम कृपालु प्रभु ने उन देवताओं को भूमि पर प्रतिष्ठित कर उनके लिए अन्न और जल की व्यवस्था कर दी। उसने पच-महाभूतों को तपाया। जिनसे एक मूर्ति उत्पन्न हुई, वही अन्न था। यह अन्न परमात्मा रूप है — **अन्नं ब्रह्म**। इस अन्न से सम्पूर्ण प्राणियों की संरचना हुई है। अन्न सोम है और रेतस् है, जो जीव-सृष्टि के महाचक्र का प्रवर्तक है। अन्न प्राण है और प्राण जीवों की आयु है — **प्राणो हि भूतानां आयुः**। इससे जीवों की न केवल उत्पत्ति होती है; अपितु उनका संवर्द्धन भी होता है।

जीवन-यात्रा के लिए यह परम आवश्यक खाद्य है। यदि यह उपलब्ध न हो, मनुष्य भूखा हो, तो वह कौन-सा पाप करने को तैयार नहीं हो जाता ? छान्दोग्य उपनिषद की कथा है — एक बार कुरुदेश में भीषण अकाल पड़ा। खेती चौपट हो गई। चक्र मुनि के पुत्र उषस्ति अपनी पत्नी आटिकी के साथ क्षुधार्त अवस्था में अन्न की भिक्षा पाने को गाँव-गाँव भटकने लगे। वे महावतों के गाँव में जा पहुँचे। वहाँ एक महावत वृक्ष के नीचे बैठा उड़द खा रहा था। महर्षि ने याचना की। महावत लज्जावनत होकर विनम्र भाव से बोला, "महर्षि उड़द जूठे हैं और हैं भी नहीं। मैं आपको इन्हें देकर घोर पाप में कैसे पड़ूँ?" उषस्ति ने कहा, "भाई, मरते हुए व्यक्ति के प्राण बचाना पाप नहीं, पुण्य है। यह आपद धर्म है। शरीर-रक्षा के लिए जूठा अन्न खाना धंर्मविरुद्ध नहीं है।" महावत ने जूठे उड़द दे दिये। परमदेवज्ञ उषस्ति ने उन्हें खाकर अपने प्राणों की रक्षा की।

सामवेद के प्रतिहार मंत्रों का देवता अन्न है। मन अन्नमय है। 'जैसा खाए अन्न, वैसा बने मन्न' — की उक्ति सत्य है। महाभारत का उदाहरण है — भीष्म पितामह मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। धृतराष्ट्र और पाण्डव आदि उनके पास खड़े हैं। सूर्य उत्तरायण हैं। अन्तिम समय में लोग उनसे विभिन्न प्रश्न पूछते हैं। द्रौपदी ने पूछा, "पितामह, आपके सामने ही सभा में जब मेरा अपमान हुआ, तब आप चुप क्यों थे?" पितामह भीष्म ने उत्तर दिया, "पुत्री, उस समय मैं कौरवों का अन्न खा रहा था, इसलिए मेरी बुद्धि विनष्ट हो गयी थी। मन पापमय हो गया था और मैं कुछ करने में असमर्थ था।" मन का शुभ संकल्पशील होना मानवता का प्रथम सोपान है। इसलिए शुद्ध अन्न का ग्रहण धर्मविहित है। परिश्रम और

ईमानदारी से अर्जित अन्न शुद्ध या शुक्ल है। प्राचीन ऋषियों का शिलोच्छवृत्ति से जीवन-निर्वाह करना, मानसिक पवित्रता की क्रिया थी।

वेद का आदेश है – अन्न की निन्दा न करें, अवहेलना न करें और उसका खूब उत्पादन करें – **अन्नं न निन्द्यात्, अन्नं न परिचक्षीत, अन्नं बहु कुर्वीत**। यह व्रत है। इस व्रत से बहुत सारा अन्न प्राप्त होता है। उसकी कृपा होती है। हमें कभी अन्न के लिए तरसना नहीं पड़ता। उसका बहुमान करना हमारा धर्म है और उत्पादन कर्त्तव्य। यह हमारा वैयक्तिक तथा सामाजिक दायित्व है कि हम अन्न का तिरस्कार न करें। एक दाना भी बेकार में बर्बाद न होने दें और जूठन में छोड़कर उस महार्ह रत्न को न फेंकें। जिस देश में सौ में तीस लोगों को दोनों जून भोजन न मिलता हो, राष्ट्र के भावी कर्णधार बस स्टेण्ड और रेल्वे स्टेशनों पर जूठे टुकड़ों को ललकते हों और एक सेवाभावी वर्ग जूठी पत्तलों को ही पाना ही अपनी नियति मानता हो, देश के उस नागरिक को, धर्म और संस्कृति के गर्वीले उस व्यक्ति को और मनुष्य कहलाने के अधिकारी उस जीव को धिक्कार है, जो अन्न की अवमानना करे। यह निकृष्टतम पाप और अक्षम्य सामाजिक अपराध है। अन्न की प्रतिष्ठा में ही हमारी प्रतिष्ठा है। यह प्रभु का प्रसाद है। इसकी उपासना से हम समस्त विभूतियों से, कीर्ति और ब्राह्मतेज से और श्रेय एवं प्रेम से संयुक्त हो सकते हैं। ◻

विज्ञान और अन्धविश्वास

क्या धर्म को भी उन बुद्धि के आविष्कारों द्वारा स्वयं को सत्य प्रमाणित करना होगा, जिनकी सहायता से अन्य सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं? ... मेरा तो विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए और यह कार्य जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों के द्वारा ध्वंसप्राप्त हो जाय, तो वह सदा से निरर्थक-कोरे अन्धविश्वास का धर्म था और वह जितनी जल्दी दूर हो जाय, उतना ही अच्छा। ... सारा मैल धुल ज़रूर जाएगा, पर इस अनुसन्धान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आएँगे। वह केवल विज्ञानसम्मत ही नहीं होगा – कम-से-कम उतना ही वैज्ञानिक, जितनी कि भौतिकी या रसायनशास्त्र की उपलब्धियाँ हैं – प्रत्युत और भी सशक्त हो उठेगा; क्योंकि भौतिक या रसायनशास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने का अन्तःसाक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है।

– स्वामी विवेकानन्द

विश्व-आकर्षण के केन्द्र : श्रीरामकृष्ण

स्वामी रंगनाथानन्द

विभिन्न देशों के अनेक विचारकों ने श्रीरामकृष्ण को बड़ी ही असाधारण भाषा में प्रस्तुत किया है। वे सभी उनकी विलक्षणता से प्रभावित हुए हैं। फ्रांस के जीवनीकार मोशियो रोमाँ रोलाँ ने श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द को अपनी अत्यन्त प्रशंसात्मक भाषा में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है – "आगे चलकर हम जिन महापुरुषों का सर्वेक्षण करेंगे, उनमें से मैंने यहाँ दो को चुना है जो मेरी श्रद्धा के पात्र हैं, क्योंकि इनकी शक्ति और आकर्षण अतुलनीय हैं। इन्होंने विश्वात्मा की अलौकिक स्वर-रचना की अनुभूति की है। यदि कहा जाए तो श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द – ये दोनों, मोजार्ट तथा उनका बिथोवन, पेटर सिरेफिकस तथा थंडरर जोव के सदृश ही थे।"

कितने सुन्दर शब्द हैं ये – 'विश्वात्मा की अलौकिक स्वर-रचना!' अपने पचास वर्षों के जीवन काल में श्रीरामकृष्ण ने एक सघन जीवन बिताया, जिसके अन्तर्गत उन्होंने मानव की सभी आध्यात्मिक आकांक्षाओं तथा प्रवृत्तियों का स्पर्श किया है। दिवंगत जीव-वैज्ञानिक सर जूलियन हक्स्ले ने माँग की है – "जब हम मानव के अन्तिम अथवा प्रभावी लक्ष्य को पहचान लेंगे, तब हमें मानवीय सम्भावनाओं के एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता होगी जो प्रतीक्षारत मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक क्रमविकास के लम्बे मार्ग पर हमारी सहायता कर मार्गदर्शन कर सकेगा।"

प्रत्येक मानव में कौन कौन-सी सम्भावनाएँ अव्यक्त रूप से छिपी रहती हैं? संक्षेप में मानवीय सम्भावनाओं के इसी विज्ञान का भारत ने अपने उपनिषदों में विकास किया था और अपने प्राचीन इतिहास में आज तक उसने अपने जाज्वल्यवान महान आध्यात्मिक पुरुषों के जीवन के द्वारा उसे अनवरत रूप से विकसित किया है। प्रबुद्ध आचार्यों की उसी अविच्छिन्न परम्परा में वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण आए। इसी कलकत्ता शहर में, उन्होंने इसके रास्तों और गलियों में प्रायः विचरण करते हुए इन्हें पवित्र किया है। उनकी विलक्षणता इसी में थी कि वे आन्तरिक रूप से अत्यन्त असाधारण होते हुए भी बाहरी तौर पर बहुत ही साधारण से प्रतीत होते थे।

इस बाह्य सादगी को भेदकर उनके असाधारण आयामों को समझने के लिए कला और आध्यात्मिकता से युक्त तीक्ष्ण शक्ति की आवश्यकता है। उनके पार्षदों के अतिरिक्त, केवल रोमाँ रोलाँ इस उद्देश्य में सफल हुए हैं। वे कहते हैं – "जिस व्यक्ति के विग्रह की मैं यहाँ स्थापना कर रहा हूँ, वह तीस करोड़ लोगों के दो हजार वर्षों की आध्यात्मिक साधना के उत्कर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। यद्यपि चालीस वर्षों पूर्व ही वे दिवंगत हो गये, तो भी उनकी आत्मा वर्तमान भारत को अनुप्राणित कर रही है। वे गाँधी की भाँति कर्मवीर

नहीं थे, न ही कला और दर्शन में गेटे तथा टैगोर के समान ही थे। वे बंगाल के एक साधारण ग्राम्य ब्राह्मण थे, जिनका सीमित बाह्य जीवन तत्कालीन राजनैतिक व सामाजिक क्रियाकलापों से अछूता ही था। उनमें कुछ भी असाधारण नहीं था। परन्तु उनके आन्तरिक जीवन ने सम्पूर्ण मानव एव ईश्वर के विविध पहलुओं को अपने आप में समेट लिया था।''

ईश्वराभिमुख भावातिरेक का मानव के प्रति प्रेमयुक्त हो प्रवाहित होना

यह एक महान साहित्यकार तथा जीवनीकार के बड़े ही मार्मिक विचार हैं। श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में उनकी महानता के इस पहलू को अन्य कोई भी लेखक व्यक्त नहीं कर सका है।

श्रीरामकृष्ण के जीवन का पूर्वार्ध एक तीव्र ईश्वराभिमुखी भावातिरेक के साथ एकाकीपने में व्यतीत हुआ था। उन दिनों वे मानव समाज से दूर दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर की शान्ति और स्तब्धता में सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ धर्म के वैज्ञानिक अनुसन्धान में 'जी' रहे थे। उनका वह तीव्र साधना-काल लगभग बारह वर्षों का था, जिसमें आध्यात्मिक अनुभूतियाँ और भावावेश उनके जीवन के नित्य एव अभिन्न अंग बन गये थे। परन्तु उनके जीवन के उत्तरार्ध में ऐसा दीखता है, मानो ईश्वराभिमुख भावातिरेक मानवाभिमुख प्रेम एवं करुणा की ओर बह चला है। इस दूसरे पहलू में कुछ ऐसा है जो अधिक चित्ताकर्षक है तथा सम्पूर्ण मानवता के लिए लाभकारी है। उनके जीवन का यह भाग मानव के प्रति उनके तीव्र प्रेम तथा मानव-सग करने की उनकी इच्छा को व्यक्त करता है। यह इच्छा इतनी तीव्र हो उठती थी कि जब बाद के दिनों में श्रेष्ठ विचारक, भक्त तथा नवयुवक उनके पास आने लगे तथा जब कभी भजन गाते या आध्यात्मिक उपदेश देते समय वे गम्भीर भावों में निमग्न होने लगते, तो वे माँ काली से प्रार्थना करते, ''माँ ! जो समाधि चाहते हों, उन्हें वह दे दो, परन्तु मुझे मनुष्यों से बातें करने दो। मुझे शुष्क ज्ञानी मत बनाना।''

वर्तमान समय में मानव मात्र के प्रति श्रीरामकृष्ण का इतने तीव्र प्रेम का बड़ा महत्व है। रोमाँ रोलाँ ने इस बात का विशेष उल्लेख किया है, और इसे 'सिनाय के पर्वत से अवतरण' कहा है और दूसरे ही अध्याय को शीर्षक दिया है – 'मनुष्य की ओर वापसी'। वे लिखते हैं – ''विशेषकर इतनी दीर्घकालीन योगिक समाधि अवस्था फ्रांस के मेरे ऐसे पाठकों को न केवल उलझन में डाल सकती है, अपितु उन्हें उत्तेजित भी कर सकती है, जो स्थायी धरातल पर जीने के आदी हैं तथा लम्बे समय तक अग्निमय आध्यात्मिक अनुभवों के आघातों को जिन्होंने सहन न किया हो। कुछ काल तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा कीजिए। हम अब सिनाय के पर्वतीय टीले से मनुष्यों के बीच अवतरण करेंगे।''

श्रीरामकृष्ण : उनके आकर्षण की सार्वभौमिकता

अन्य धार्मिक आचार्यों से भिन्न श्रीरामकृष्ण का एक सार्वभौमिक आकर्षण था। उनके पास आनेवालों में सरल तथा पवित्र हिन्दू बालक, पुरुष तथा स्त्रियाँ थीं और साथ ही उच्च कोटि के विद्वान तथा केशवचन्द्र सेन सरीखे विचारक एवं धार्मिक नेता भी विद्यमान थे।

उनसे भेंट करनेवालों में कलकत्ते की Indian Associan for the Cultivation of Science (विज्ञान-प्रवर्धन के लिए भारतीय संस्था) के संस्थापक डॉ. महेन्द्रलाल सरकार भी शामिल थे। इसके अतिरिक्त उनमें स्वामी विवेकानन्द सहित स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों के अनेक युवक भी मौजूद थे। उन्होंने किसी का भी बहिष्कार नहीं, बल्कि सबका स्वागत किया और सभी उनके सान्निध्य में परम आनन्द का अनुभव किया करते थे। जब आप 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नामक महान ग्रन्थ पढ़ते हैं, तो आप उसके पृष्ठों में विभिन्न प्रकार के लोगों से परिचित होते हैं। उनमें से प्रत्येक श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व की चुम्बकीय शक्ति से आकृष्ट हुआ था। उन्होंने किसी का परित्याग नहीं किया, प्रत्येक को स्वीकार किया। इस सार्वभौमिक स्वीकृति की क्या विशेषता थी?

पिछले हजारों वर्षों से हमारे देश की नियति में अपने एक विशिष्ट ऐतिहासिक परिवेश में ही विकसित होना लिखा है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था – 'व्यक्तिवाद ही हमारा आदर्श है'। हमने प्रत्येक पुरुष या नारी को अपना स्वयं का धर्म चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। और श्रीरामकृष्ण ने इस महान विषय को लेकर बारह वर्षों के सुदीर्घ काल तक इस पर प्रयोग किए और उसे पुनः प्रमाणित कर दिखाया। उन्होंने सार रूप में हमारी राष्ट्रीय प्रज्ञा को घोषित करते हुए कहा – 'जितने मत उतने पथ' – जितने भी धर्म हैं, सभी ईश्वर की ओर ले जानेवाले मार्ग हैं। हमारा देश समन्वय एवं सहिष्णुता की भूमि के रूप में विख्यात है। यह दुर्भाग्य की बात है कि आज हम उस स्पर्श से वंचित हैं, क्योंकि हमने अपनी प्राचीन प्रज्ञा से संस्पर्श को खो दिया है और श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द की महान शिक्षाओं के सम्पर्क में भी नहीं आए हैं। दरअसल, हमने अपने लंगर खो दिये हैं। वक्त आ चुका है कि जब श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रदत्त समन्वय की उदात्त भावनाओं को हम अपनी राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी प्रयुक्त करें। हमारे गणतन्त्र में राजनैतिक हिंसा भला क्योंकर होनी चाहिए? हमें लिंगभेद-निरपेक्ष भाव से प्रत्येक के अधिकारों का समादर क्यों नहीं करना चाहिए और सभी की बातें धैर्यपूर्वक क्यों नहीं सुननी चाहिए? किसी भी महिला या पुरुष को अपने विचार व्यक्त करने देना चाहिए तथा हमें प्रत्येक के अपने स्वतन्त्र विचारों को अभिव्यक्त करने के अधिकार में बाधा न डाल, उन्हें सुनना चाहिए। परन्तु उनके विषय में स्वतन्त्र निर्णय लेने के अधिकार हम तक सुरक्षित रहें। लोगों को बाध्य क्यों किया जाय? हमारे भारतीय जीवन के राजनैतिक, धार्मिक एवं अन्य क्षेत्रों में विचारों तथा कार्यक्षेत्रों में इस तरह की हिंसा आज निरंकुश ढंग से बढ़ रही हैं, जो सचमुच ही कितनी अभारतीय हैं! यह हमारी गणतान्त्रिक परम्परा के लिए भी घातक है। श्रीरामकृष्ण के चरणों में बैठकर ही हम अपने देश को अपने पूर्व-परीक्षित भारतीय प्रज्ञा की ओर ले जाने में सक्षम हो सकेंगे।

श्रीरामकृष्ण का सन्देश : गहरे पैठो

ये अत्यन्त विलक्षण समन्वयाचार्य चाहते थे कि आधुनिक मानव अपने अन्तर की गहराइयों में डुबकी लगाये और अपने अन्तर में चिर-विद्यमान उस देवत्व की खोज करे, जो सब प्रकार की शान्ति, प्रेम एवं समन्वय का केन्द्र-बिन्दु है। ऐन्द्रिक स्तर पर मानव

तुच्छ एवं नश्वर वस्तुओं को लेकर जीता है। परन्तु अपने व्यक्तित्व के गहनतर स्तरों पर वह सचमुच ही मूल्यवान वस्तुओं के सम्पर्क में आता है। श्रीरामकृष्ण स्वयं ही कहते हैं – "जब तुम समुद्र की सतह पर तैरते हो, तब केवल सीपियाँ ही तुम्हारे हाथ लगती हैं; गहराई में गोता लगाओ, तो वहाँ मोती मिलेंगे।" इसीलिए वे गाया करते थे – "डूब, डूब, डूब, रूपसागरे आमार मन – अर्थात (हे मन), ईश्वरीय सौन्दर्य की गहराई में गोता लगाओ, गोता लगाओ, गोता लगाओ।" मानव-मन की परम गहराई में गोते लगाकर ही भारतीय साहित्य ने ज्ञान के बहुमूल्य मोतियों का संग्रह किया है। उपनिषद, बुद्ध की शिक्षा और भगवद्‌गीता की ओर उन्मुख होने पर हम देखते हैं कि इन्हीं में हमारे देश के ज्ञान की असाधारण एवं सर्वोच्च परम्परा निबद्ध है। केवल सत्य की गहराइयों से निस्सृत शब्द ही स्थायी रहते हैं। हमारे रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा रचित 'गीतांजलि' की भाषा में – "सत्य की गहराई से निस्सृत शब्द।" केवल ये ही मानव-हृदय की गहराई में उतर सकते हैं। अन्य शब्द अप्रभावी ही सिद्ध होते हैं। श्रीरामकृष्ण के शब्दों में ऐसी ही गुणवत्ता है। श्रीमद्‌भागवत में, श्रीकृष्ण का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए, महान आध्यात्मिक आचार्यों के जिस आकर्षण का वर्णन किया गया है, उसे आज के युग में श्रीरामकृष्ण पर भी चरितार्थ किया जा सकता है –

वयं तु वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥ (१.१.१९)

– पुण्यकीर्ति श्री भगवान की लीला के श्रवण से हमें कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि रसज्ञ श्रोताओं को पद पद पर श्रीभगवान की लीलाओं में नित्य नवीन रस का अनुभव हुआ करता है।

श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक आकर्षण ऐसा ही है। उनका विलक्षण व्यक्तित्व संसार के विभिन्न भागों में बढ़ते हुए लाखों लोगों के हृदय जीत रहा है। आप देखेंगे कि सारे जगत के लोग उस महान पुस्तक 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' में बड़ी गम्भीर रुचि ले रहे हैं। वे उसमें कुछ नवीन, कुछ विलक्षण और कुछ अद्‌भुत पाते हैं। उदाहरणार्थ – मैंने देखा है कि ईरान में कई विद्वान श्रीरामकृष्ण की शिक्षाओं से प्रभावित हुए हैं। जब मैं १९७६ या १९७७ में इंग्लैण्ड गया था और वहाँ वेस्टमिन्स्टर के अध्यक्ष (डीन) तथा उनकी पत्नी से मिला, तो उन्होंने बताया कि वे लोग 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' पुस्तक पढ़ रहे हैं और उसे बड़ी अद्‌भुत पाते हैं। जिस ढंग से यह पुस्तक संसार में सभी के हृदयों पर विजयश्री प्राप्त कर रही है, उससे आज हम आशा कर सकते हैं कि सारा जगत इस महत्तम कृति से अनुप्रेरित तथा शिक्षित होकर एक विश्वजनीन दृष्टिकोण एवं सद्‌भाव की उपलब्धि कर सकेगा।

उपसंहार

जहाँ तक आज हमारे अपने देश की समस्याओं का प्रश्न है, वहाँ हम श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के सन्देश को कार्य रूप में परिणत करने के अलावा बेहतर और कुछ नहीं कर सकते। श्रीरामकृष्ण हमसे अपने अन्तर के दिव्यस्वरूप को प्रकट करने तथा दूसरों

के साथ सद्भावपूर्वक ढंग से जीने की सलाह देते हैं। स्वामी विवेकानन्द प्रोत्साहन देते हुए कहते हैं कि मानव-जाति के विकास हेतु हमें अपने देश को, , जो विश्व-मानवता का सातवाँ भाग है, एक शक्तिशाली नृतात्त्विक प्रयोगशाला बना देना होगा । मानवीय सम्भावनाओं को प्रकटित करनेवाली उस विज्ञान तथा तकनीक को, मानव-विकास और परिपूर्णता के उस कार्यक्रम को, हमें श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द ने ही सिखाया है। उनके ये आशावादी सन्देश और प्रोज्ज्वल सन्देश भारत के तथा विदेशों के लाखों लोगों को धीरे धीरे किन्तु दृढ़तापूर्वक प्रभावित करेंगे। इन सन्देशों ने, अनेक लोगों में से बंगाल के हमारे क्रान्तिकारी दिवंगत मुसलमान कवि श्री काजी नजरुल इस्लाम को भी प्रभावित किया था, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण पर अपने प्रसिद्ध गीत में गाया है —

सत्ययुगेर पुण्यस्मृति आनिले कलिते तुमि तापस।

— "हे ऋषिवर, आपने ही इस कलियुग (लौह युग) में सत्ययुग की स्मृति ला दी है।"

और स्वामी विवेकानन्द के विषय में उन्होंने लिखा है —

भारते आनिले तुमि नव वेद, मुछे दिले जाति-धर्मेर भेद।

— "तुम्हीं भारत में अभिनव वेद लाये और जाति-धर्म का भेद मिटा डाला।"

इस कवि के दर्शन को कार्यरूप में परिणत करना आज हमारे तथा लाखों भारतवासियों का कर्तव्य है, ताकि अथक रूप से कार्य करते हुए हम सम्पूर्ण मानव-विकास के उद्देश्य को पूरा कर सकें। सब प्रकार की राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज-शास्त्र तथा शिक्षा का इससे बेहतर उद्देश्य भला और क्या हो सकता है? जैसा कि मैंने पहले ही उल्लेख किया है, रोमाँ रोलाँ ने श्रीरामकृष्ण को विश्वात्मा की एक अलौकिक स्वर-रचना कहा है। सारा विश्व उसी स्वर-रचना तथा उसी समन्वय को खोज रहा है। मानव के भीतर कितना विघटन हुआ है, मानव के बाहर समाज में कितना विघटन हो रहा है ! इस दुर्वव्यवस्था के बीच यदि हमें सामंजस्य स्थापित करना हो, तो हमें मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ेगी। प्रेरणा की वह निधि आपको श्रीरामकृष्ण के जीवन और शिक्षाओं से प्राप्त होगी। ◻

अंग्रेजी से अनुवाद — स्वामी उरुक्रमानन्द

सुख और दुख

इन्द्रियों से जो सुख मिलता है, वह अन्त में दुख ही लाता है; क्योंकि भोग से और अधिक भोग की तृष्णा होती है और इसका अपिहार्य फल होता है दुख। मनुष्य की कामनाओं का कोई अन्त नहीं, वह लगातार कामना रचता जाता है और जब ऐसी अवस्था में पहुँचता है, जहाँ उसकी कामनाएँ पूर्ण नहीं होती, तो फल होता है दुख।

— स्वामी विवेकानन्द

द्वारका-सोमनाथ यात्रा : एक संस्मरण

रामकुमार गौड़

योगेश्वर श्रीकृष्ण की राजधानी वाराणसी से लगभग २१०० कि.मी. दूर गुजरात के समुद्र तट पर स्थित है। द्वारका-सोमनाथ की मेरी यह यात्रा आकस्मिक थी अर्थात इसके लिए दीर्घकालिक व्यग्रता एव योजना नहीं बन पाई थी। फिर भी श्रीकृष्ण की नगरी द्वारका के दर्शन का चाव एव उत्साह मन में भक्ति एवं श्रद्धा उत्पन्न किए बिना नहीं रह सका।

हम लोगों की टोली में ३ महिलाओं तथा २ बच्चों सहित कुल ११ लोग थे। यात्रा का प्रथम पड़ाव प्रातः ५ बजे आनन्द रेल्वे स्टेशन पर पड़ा। वहाँ से हम लोग श्रीकृष्ण के ही लीलाधाम डाकोरजी गए, जो आनन्द से लगभग ३६ कि.मी. है। यह दूरी 'बस' द्वारा एक घण्टे में तय करने के बाद हम लोग पुनीत आश्रम की धर्मशाला में विश्राम एवं भोजन के लिए रुके। वहाँ से डाकोरजी का रणछोड़राय मन्दिर १० मिनट पैदल का रास्ता है। श्रीकृष्ण जरासध के वध के पश्चात इस स्थान पर विश्राम हेतु रुके थे और इसी बीच उन्होंने विश्वकर्मा को द्वारका नगरी के निर्माण का आदेश दिया। रणछोड़राय का मन्दिर बड़ा ही भव्य है तथा मन्दिर का आकार मण्डपनुमा, बड़ी छतरी के समान है। भगवान की भव्य झाँकी तो भक्तिपूर्ण हृदय के अनुभव का ही विषय है इसे लेखनी अपना विषय कैसे बनाए? मुझे लगा कि निश्चित रूप से प्रभु का लीलाधाम भी उनकी भक्ति और कृपा की अनुभूति करा पाने में पूर्णतया सक्षम है। बस, हमें अपना भावजगत निष्कलुष एवं निष्कपट बना लेना है। गोस्वामीजी भी तो सुन्दरकाण्ड में इसी बात पर बल देते हैं।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

डाकोरजी से पुनः बस द्वारा आनन्द और आनन्द से अहमदाबाद पहुँचकर हमने कुछ विश्राम किया। लगभग २ घण्टे विश्राम के उपरान्त हम अहमदाबाद जामनगर इन्टर-सिटी एक्सप्रेस से ६ बजे शाम को चलकर लगभग १ बजे रात में जामनगर के पहले पड़नेवाले हापा स्टेशन पहुँचे। हापा से प्रतिदिन एक पैसेन्जर-गाड़ी द्वारका को जाती है और यह उक्त इन्टरसीटी एक्सप्रेस की लिंक ट्रेन है अर्थात उसके हापा पहुँचने पर ही यह पैसेन्जर द्वारका के लिए प्रस्थान करती है। इस प्रकार हम लोग लगभग तीन रात तथा ढाई दिन की किंचित विश्रामयुक्त यात्रा के बाद १० अप्रैल को ४ बजे प्रातः द्वारका पहुँचे। द्वारका के आगे भी ट्रेन ओखा तक जाती है, जो द्वारका से लगभग ८-१० किलोमीटर दूर है और भारत का पश्चिमी छोर है। उसके बाद अरब सागर की उत्ताल तरंगों का साम्राज्य है।

द्वारका रेल्वे स्टेशन पर पहुँचने पर हमें पता चला कि वहाँ जल का प्रायः अभाव रहता है और बहुत कम समय के लिए जल की आपूर्ति की जाती है। फिलहाल स्टेशन के नल से पानी बहुत धीरे धीरे आ रहा था। यात्रियों की भीड़ भी नगण्य थी। अतः हम सभी बारी बारी से अल्प जल में ही नित्यकर्म एवं स्नानादि करके जब निवृत्त हुए तो भगवान भास्कर

अपनी स्वर्णरश्मियों के साथ हमारे समक्ष प्रकट हो चुके थे। द्वारका में उन दिनों सूर्योदय लगभग ७.१५ बजे और सूर्यास्त ७.३५ पर होता था, जो हम लोगों के लिए बड़े ही विस्मय की बात थी, परन्तु पश्चिमी छोर पर होने से वहाँ सूर्योदय एवं सूर्यास्त वाराणसी की अपेक्षा काफी विलम्ब से होता है। तदुपरान्त हम लोग अपने २ सहयात्रियों के रेल्वे पास की सहायता से रेल्वे के विश्रामालय में रुके। फिर सभी लोग द्वारकाधीश मन्दिर के दर्शनार्थ गए। द्वारकाधीश मन्दिर का अभी जीर्णोद्धार चल रहा है, तथापि उसका ९०-९५% भाग निर्मित हो चुका है। मन्दिर की पच्चीकारी आकर्षक है। भगवान आदि-शंकराचार्य का पीठ मन्दिर-प्रांगण में ही है। समुद्रतट पर स्थित मन्दिर बड़ा ही चित्ताकर्षक व भव्य है।

द्वारका के आसपास के धार्मिक स्थल भी दर्शनीय हैं, यथा – गोपीतालाब, रुक्मिणी मन्दिर, नागेश्वर महादेव आदि। किराए की एक मिनीबस लेकर हमने इन सभी स्थलों का परिभ्रमण किया। सबसे रोमांचक यात्रा 'भेंट-द्वारका' नामक द्वीप पर पहुँचने की रही। वहाँ जाने के लिए ओखा तक वाहन से जाना पड़ता है। तत्पश्चात मोटरबोट से लगभग २०-२५ मिनट की यात्रा के बाद 'भेंट-द्वारका' नामक द्वीप पर जाने को मिला। कहते हैं कि द्वारका के जिस स्थल पर श्रीकृष्ण और उनके सखा श्री सुदामा की भेंट हुई थी, उसे बाद में श्रीकृष्ण ने समुद्र में जलमग्न कर दिया तथा सम्प्रति वह भेंट-द्वारका (गुजराती भाषा में बेट-द्वारका) के नाम से जाना जाता है। वहाँ श्रीकृष्ण तथा सुदामा से सम्बन्धित कई सुन्दर मन्दिर हैं। बेट-द्वारका की लगभग ५००० की जनसख्या में १००० हिन्दू तथा ४००० मुसलमान हैं, परन्तु कभी भी वहाँ साम्प्रदायिक सद्भाव का अभाव नहीं रहा। वहाँ के लोगों के कथनानुसार वहाँ के मन्दिर और दर्शनार्थी भक्त ही स्थानीय लोगों की जीविका के आधार हैं। अधिकांश मुसलमान भगवान के लिए माला, फूल, चित्र आदि बनाने तथा बेचने के काम में लगे हैं। बेट-द्वारका द्वीप लगभग ८ कि.मी. के व्यास में फैला है। चारों ओर समुद्र की तरंगें, जलयान, दीपघर आदि समुद्र की व्यापकता में मील के पत्थर जैसे दिखाई देते हैं। बेट-द्वारका के महत्व पर प्रकाश डालते हुए एक व्यक्ति ने हमें बताया कि सुदामा का घर गुजरात में ही पोरबन्दर में था, जो द्वारका से लगभग ६० कि. मी. दूर है। पोरबन्दर से पैदल चलकर सुदामाजी बेट-द्वारका पहुँचे और द्वारकाधीश श्रीकृष्ण से भेंट करके अपनी चिरकालिक कंगाली से मुक्ति पाकर प्रभु की अहैतुकी कृपा प्राप्त की थी। पोरबन्दर में ही महात्मा गांधी का भी जन्म हुआ था।

द्वारका-परिदर्शन के पश्चात हम सोमनाथ के लिए रवाना हुए। इस हेतु एक दिन पहले ही हमने गुजरात राज्य परिवहन की बस में सीट-आरक्षित करा लिया था। द्वारका से सोमनाथ की दूरी लगभग २०० कि. मी. है। किराया प्रति व्यक्ति लगभग ५५ रु. तथा यात्रा में लगभग ६ घण्टे लगते हैं। यह मार्ग समुद्र के समानान्तर चलता है, जिसके किनारे नारियल के हरित वृक्ष तथा पवनचक्कियाँ भी दिखाई देती हैं। इस क्षेत्र में जनसंख्या विरल है, तथापि वस्त्राभरणों से सजी गुजराती महिलाओं के निःशंक एवं अबाध विचरण से यह ज्ञात हुआ कि यहाँ ईमानदारी का साम्राज्य है और चोरी, राहजनी आदि अन्य प्रदेशों की

तुलना में काफी कम होती है। लोग सरल, व्यवहार कुशल, कर्तव्यपरायण ही मिले। बसें नियमित समय से चलकर निर्धारित समय पर गन्तव्य स्थलों पर पहुँचती हैं।

सोमनाथ पहुँचकर हमने बस-स्टेशन के पास ही स्थित मन्दिर के देवस्थानम् ट्रस्ट में अपना सामान रखा तथा नित्य-कर्म के पश्चात अति समीपस्थ सोमनाथ मन्दिर का दर्शन करने गये। सोमनाथ मन्दिर समुद्रतट पर ही स्थित है तथा लगभग तीन ओर से वह समुद्र से घिरा है। मन्दिर में सरकार की ओर से सारी व्यवस्था होती है। मन्दिर के सामने ही सड़क के तिराहे पर लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल की आदमकद प्रतिमा शोभायमान है, जो सोमनाथ मन्दिर के उनके द्वारा जीणोद्धार किए जाने के संकल्प को अभिव्यक्त करती है। सोमनाथ से ही सटा हुआ प्रभास-पाटन का पुण्य क्षेत्र भी है, जिसमें मन्दिरों की एक शृखला ही है। यहाँ त्रिवेणी संगम, परशुराम तपस्थली, गीता मन्दिर, महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की बैठक, शंकराचार्य मन्दिर, सूर्यमन्दिर, हिंगलाज माता की गुफा तथा श्रीकृष्ण का निर्वाण स्थल आदि प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं । टेम्पो या ऑटो की सहायता से उक्त निकटस्थ क्षेत्रों का परिभ्रमण किया जा सकता है।

इस प्रकार द्वारका-सोमनाथ की यात्रा के द्वारा हम लोगों ने अपने भावजगत के निर्मलीकरण के साथ ही प्रभु की भक्ति एवं कृपा के समुद्र में अपने मन रूपी मत्स्य के विहार का आनन्द प्राप्त किया। □

पुण्य और पाप

पुण्य वह है, जो हमारी उन्नति में सहायता करता है और पाप वह जो हमारे पतन में। मनुष्य तीन प्रकार के गुणों से निर्मित है – पाशविक, मानवीय और दैवी। जो तुममें दैवी गुण बढ़ाता है वह पुण्य है और जो तुममें पशुता बढ़ाता है वह पाप है। तुम्हें अपनी पाशविक वृत्ति को मारकर प्रेममय और उदार मनुष्य बनना चाहिए। तुमको और भी ऊपर उठना चाहिए – शुद्ध आनन्द, सच्चिदानन्द, अदाहक अग्नि के समान अद्भुत प्रेममय, परन्तु मानवीय प्रेम की दुर्बलता एवं दुख की भावना से रहित बनना चाहिए।

– *स्वामी विवेकानन्द*

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

— ८५ —

आजकल तुम थोड़ा बेहतर महसूस कर रहे हो, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

तद्दिनं दुर्दिनं मन्ये मेघाच्छन्नं न दुर्दिनम्। यद्दिनं हरिसंलापकथापीयूषवर्जितम्॥

मेघाच्छन्न दिन दुर्दिन नहीं है, वरन् जिस दिन हरिकथामृत का पान नहीं होता वही दुर्दिन है। सुख के, दुख के भले-बुरे दिन तो बीत जाते हैं, परन्तु जो दिन भगवद्-भजन से रहित बीतते हैं, वे वृथा ही आयु का क्षय करते हैं।

तुम्हारा मन भजन में अच्छी तरह स्थिर होता है और आनन्द प्राप्त करता है, यह जानकर मुझे जो सन्तोष हुआ वह अवर्णनीय है। खूब साधन-भजन करो, उनमें पूरी तरह मग्न हो जाओ – इसी में जीवन की सार्थकता है। देह धारण के लिए जितना कार्य अनिवार्य है, उतना अवश्य ही करना होगा, अत: उसे स्थिर चित्त के साथ करना चाहिए क्योंकि नाराजी से कोई लाभ नहीं। वे जहाँ कहीं भी रखें, वहीं पर रहकर प्राणपण से उन्हें पुकारते रहो। स्थान से कोई ज्यादा अन्तर नहीं पड़ता; तथापि ऐसे स्थान में ही रहना उचित है, जहाँ पर भजन में सुविधा हो। घर में ही यदि साधन-भजन की सुविधा हो, तो फिर किसी दूसरी जगह जाने की क्या आवश्यकता?

सासारिक-कर्म जितना भी हो सके निर्लिप्त भाव से करना होगा। अभ्यास करते करते समय आने पर सब कुछ करना सम्भव है। सारा भार उनको सौंपकर निश्चिन्त होने का प्रयास करना। वे ही सब कुछ कर रहे हैं। जीव मोहवश अपने आपको कर्ता समझ बैठता है और इसी कारण वह बद्ध हो जाता है। नाहं, नाहं, तूहू तूहू – यह महामन्त्र कदापि विस्मृत न हो। उन्हीं का चिन्तन करने पर देखोगे कि बाकी सभी चिन्ताएँ दूर हो जाएँगी। हाँ, जितने दिनों तक मन शरीर में रहे, अर्थात् तबियत खराब होने पर भगवच्चिन्तन में बाधा प्रतीत हो, तब तक शरीर को स्वस्थ तथा नीरोग रखने का प्रयास करना। शरीर के लिए नहीं, वरन् भगवान का भजन करने के लिए शरीर की देखभाल अत्यन्त आवश्यक है।

तुम्हारा उत्साह और उम्मीद देखकर मैं आनन्दित हूँ। यही तो चाहिए। यही मनुष्य को क्रमशः उन्नति की ओर ले जाता है और निराशा तथा अवसाद का भाव उसे क्रमशः और भी अधिक हताश करता है। प्रभु के शरणागत होकर रहने से कोई भी भय-चिन्ता नहीं रह जाती – वे सभी प्रकार से सहायता करके अपनी ओर खींच लेते हैं। मन में उतार-चढ़ाव तो आया ही करता है। कभी मन उनकी ओर आकृष्ट होता है, भजन में अच्छी रुचि होती है, आनन्द होता है; फिर कभी कुछ भी अच्छा नहीं लगता, भजन में मन नहीं लगता, हृदय में निरानन्द का भाव छाया रहता है। परन्तु जो दोनों ही अवस्थाओं में, चाहे अच्छा लगे या बुरा, भजन किये ही जाता है, उसके मन का उतार-चढ़ाव क्रमशः अपने आप दूर होकर एकरस भाव का उदय होता है। तब मन भगवच्चिन्तन में अपने आप ही निरन्तर लगा रहता

है और हर्ष-विषाद उसे विचलित नहीं कर पाते। वह सभी अवस्थाओं में भजन करते हुए भीतर में अतीव आनन्द का अनुभव करता है। प्रभु की कृपा से जीव यही अवस्था पाकर धन्य हो जाता है। तुम मेरा सर्वतोभावेन आशीर्वाद स्वीकार करना।

— ८६ —

ध्यान-धारणा, जप-तप, पूजा-पाठ, योग-याग जो कुछ भी कर्म या साधना है, वह सब पहले चित्तशुद्धि के लिए है। ज्ञानलाभ अथवा स्वरूप की उपलब्धि के लिए चित्तशुद्धि की आवश्यकता है। चित्त वासनापूर्ण होने पर अशुद्ध और निष्काम होने पर शुद्ध कहलाता है। जिस उपाय से भी हो सके, सेवा द्वारा हो, विचार द्वारा हो अथवा प्रेम के द्वारा। जिसे जिसमें सुविधा हो वह वैसा करे, पर अहंनाश सभी को करना होगा। इस 'क्षुद्र-अहं' के दूर होते ही, सच्चिदानन्द पुरुष की अभिव्यक्ति उस 'विराट्-अहं' की उपलब्धि होती है और इसी को जीवनमुक्ति कहते हैं। प्रभु की कृपा सदा ही उपलब्ध है, इसका अभाव कभी नहीं होता। चित्तशुद्धि के द्वारा इसका पूर्ण अनुभव तथा आस्वादन होता है। ज्ञान भी सर्वदा है, उसमें पहले या बाद नहीं है, सिर्फ मेघ के समान अज्ञान के हट जाने की अपेक्षा है। ऐसा होते ही सर्वदा विद्यमान ज्ञानसूर्य प्रकट हो उठता है। मनुष्य इसके लिए बहुत कुछ करता है, पर श्रद्धा ही इसकी उपलब्धि का प्रमुख उपाय है — **श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः। (गीता, ४/३९)** — श्रद्धावान, भगवत्परायण तथा जितेन्द्रिय व्यक्ति ही ज्ञानलाभ का अधिकारी होता है।

— ८७ —

यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि आपने निराशा का भाव त्यागने का निश्चय किया है। आप अवश्य ही आशा पाएँगे, निराशा का भाव छोड़ने पर आप खूब आशा पाएँगे; मैं भगवान से निरन्तर इसके लिए प्रार्थना करता रहा हूँ, आप भी कीजिएगा, तभी वे सुनेंगे।

आपका 'वेदस्तुति' का अनुवाद पढ़ा, काफी अच्छा लगा, टीका अनुवाद अति विस्तृत है, टिप्पणियाँ अत्यन्त मनोरम हैं; फिर विषय की बात और क्या कहूँ, वही तो समस्त शास्त्रों का एकमात्र सार-सिद्धान्त है — **वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥** — वेदों में, पुराणों तथा महाभारत में — आदि, मध्य तथा अन्त में सर्वत्र हरि का ही गुणगान किया गया है।

हरि को छोड़कर अन्य गति नहीं है, क्योंकि एकमात्र वे ही सत्य और नित्य हैं, शेष सब मिथ्या है — अभी है और अभी नहीं। अतः उन सबमें विश्वास रखने से कोई लाभ नहीं, वरन् दुखप्राप्ति ही अवश्यम्भावी है। परन्तु प्रभु की माया इतनी प्रबल है कि सत्य को आसानी से समझने ही नहीं देती। इसलिए प्रभु उपाय बता गए हैं — **मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। (गीता, ७/१४)** — जो लोग मेरी शरण लेते हैं, वे इस अविद्यारूप माया से पार हो जाते हैं। प्रभु की शरण लेने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं — **मामेकं शरणं व्रज** — एकमात्र मेरी ही शरण लो (गीता १८/६६)। प्रभु कृपा करके हम लोगों को अपने चरणों में रखें — यही उनसे हमारी हार्दिक प्रार्थना तथा एकमात्र निवेदन है। □